अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र

सर्वोदय जगत

वर्ष: 44-45, संयुक्तांक: 24-1, 1-31 अगस्त 2021

* आज़ाद देश और गुलाम देश का फर्क —बलराज साहनी
* साझी शहादत का गवाह है 1857 —शमसुल इस्लाम
* भारत विभाजन की साजिश में कौन लोग शामिल थे —जयसिंह रावत
* स्वदेशी आंदोलन में महिलाएं थीं आगे —डॉ सरिता
* तालिबान की वापसी —उर्मिलेश
* निराशाजनक भविष्य की ओर अफगानिस्तान —अरुण माहेश्वरी
* कटरांव की कहानी —राहुल शर्मा
* महाराणा प्रताप और महानता का विवाद —विजय शंकर सिंह
* न्याय के लिए सर्वोदयी योद्धा का न्यायालय से अनवरत संघर्ष —डॉ स्नेहवीर पुंडीर
* उत्तर प्रदेश सर्वोदय मंडल की रिपोर्ट —भगवान सिंह

सर्व सेवा संघ
(अखिल भारत सर्वोदय मंडल)
द्वारा प्रकाशित

अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र
सर्वोदय जगत
सत्य, अहिंसा एवं सर्वोदय-सम्पूर्ण क्रांति का संदेश वाहक

वर्ष: 44-45, संयुक्तांक: 24-1, 1-31 अगस्त 2021

अध्यक्ष
चंदन पाल

संपादक
बिमल कुमार
सहसंपादक
प्रेम प्रकाश
09453219994

संपादक मंडल
डॉ. रामजी सिंह **अरविन्द अंजुम**
प्रो. सोमनाथ रोडे **अशोक मोती**

संपादकीय कार्यालय
सर्व सेवा संघ
राजघाट, वाराणसी-221001 (उ.प्र.)
फोन : 0542-2440-385/223
ईमेल : sarvodayajagat@gmail.com
Website : sssprakashan.com

शुल्क

एक प्रति	:	10 रुपये
वार्षिक	:	100 रुपये
आजीवन	:	1000 रुपये

खाता संख्या : 383502010004310
IFSC Code : UBIN0538353
Union Bank of India
Rajghat, Varanasi

इस अंक में...

1. संपादकीय... 2
2. आजाद देश और गुलाम देश का... 3
3. साझी शहादत का गवाह है 1857... 6
4. भारत विभाजन की साजिश में कौन लोग... 9
5. स्वाधीनता आंदोलन से अलग थे... 11
6. स्वदेशी आंदोलन में महिलाएं थीं आगे... 12
7. नाकामियां छिपाने के लिए अब बंटवारे... 13
8. राजनीति की उपज है आतंकवाद... 14
9. जेपी और अन्ना आंदोलन की तरह... 15
10. अंधेरे में धकेले गये लोग... 16
11. तालिबान की वापसी... 18
12. अफगानिस्तान : अमेरिका की मजबूरी... 19
13. निराशाजनक भविष्य की ओर... 20
14. उमायरा यदि भारत की बेटी होती तो... 21
15. खतरे में कौन है?... 22
16. कटरांव की कहानी... 23
17. देश का जुनून है या आधी रात का... 24
18. महाराणा प्रताप और 'महानता' का... 25
19. न्याय के लिए सर्वोदयी योद्धा... 27
20. न्याय, न्यायालय और न्यायमूर्ति... 28
21. नेहरू का लेखन, ज्ञान और संवेदना... 30
22. रिपोर्ट : उत्तर प्रदेश सर्वोदय मंडल... 31
23. कविता : भारत छोड़ो आंदोलन... 32

संपादकीय

स्वतंत्रता और स्वराज्य

15 अगस्त 1947 को भारत ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन से मुक्त हुआ। यह स्वतंत्रता अपने 75वें वर्ष में प्रवेश कर रही है। ब्रिटिश औपनिवेशिक गुलामी से मुक्त होकर हमें तय करना था कि अब हम किसी भी प्रकार की नव-उपनिवेशिवादी व्यवस्था में नहीं फंसेंगे। हमें व्यक्ति के स्वराज्य, लोक के स्वराज्य एवं राष्ट्र के स्वराज्य की ओर बढ़ने का मार्ग प्रशस्त करना था। इस बहुमुखी स्वराज्य यात्रा में सरकार की (राजसत्ता की) भूमिका एक गारंटर की होनी थी। अर्थात् राजसत्ता को यह सुनिश्चित करना था कि नव-उपनिवेशवादी शक्तियां पुनः कभी भी अपना जाल नहीं बिछा सकेंगी। इसी प्रकार राजसत्ता को उस परिवेश का निर्माण करना था, जिसमें व्यक्ति के स्वराज्य का, लोक समुदाय के स्वराज्य का एवं राष्ट्र के स्वराज्य का हनन या हरण नहीं होगा।

इस गारंटर के रूप में सरकार ने कुछ अधिकार एवं कुछ सत्ता का प्रभाव ग्रहण किया। कल्पना थी कि जैसे-जैसे व्यक्ति का स्वराज्य, लोक समुदाय का स्वराज्य एवं राष्ट्र का स्वराज्य मजबूत होता जायेगा, वैसे-वैसे सरकार (राजसत्ता) का दायरा घटता जायेगा। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। नागरिक अधिकारों तथा लोकतंत्र का एक ढांचा तो बना, किन्तु विभिन्न स्तरों पर स्वराज्य की स्थापना का स्वप्न दूर से दूर होता चला गया। औपनिवेशिक शासन से मुक्ति के संघर्ष के दौरान गांधीजी अहिंसक क्रांति की धारा का भी निर्माण करते जा रहे थे। वे समझते थे कि राजसत्ता की शक्ति का स्रोत तथा उसकी चालक शक्ति दोनों हिंसा की संगठित शक्ति एवं दंडशक्ति पर आधारित हैं। इसीलिए उन्होंने अहिंसक क्रांति के लिए जिस पद्धति का विकास किया, उसमें व्यवस्था परिवर्तन, मूल्य परिवर्तन तथा नये नैतिक मनुष्य के निर्माण का कार्य करने के लिए राजसत्ता के माध्यम को विचारपूर्वक छोड़ दिया।

गांधीजी ने इसी कारण स्वराज्य के आदर्श की ओर बढ़ने के लिए अहिंसक मार्ग का इजाद किया। इसके अंतर्गत सभी स्तरों पर स्वराज्य लाने का रास्ता, व्यक्ति की आत्मिक व नैतिक शक्ति केन्द्रित लोकसत्ता के निर्माण एवं लोकसत्ता के द्वारा प्रशस्त होता। इस प्रकार स्वराज्य के लिए आंदोलन, परिवर्तन की प्रक्रिया को दो स्तरों पर एक साथ चलाता है। पहला, बाह्य समाज की व्यवस्था एवं मूल्यों को अहिंसा के मूल्यों के अनुरूप बनाने का आंदोलन खड़ा करना। दूसरे व्यक्ति की अंतरात्मा की शक्ति यानि आत्मबल को जागृत कर उसे सामाजिक परिवर्तन की ऊर्जा के रूप में प्रयुक्त करना।

व्यक्तिगत अहिंसा की साधना, व्यक्ति को उच्च से उच्चतर चेतना की ओर ले जाती है। यानि स्वराज्य के लिए अहिंसक क्रांति के प्रथम पंक्ति के कार्यकर्ता उच्चतर चेतना से निर्मित आत्मबल से आंदोलन को अपना योगदान करेंगे। इसके साथ ही अहिंसक आंदोलन सामूहिक अहिंसा की साधना का भी माध्यम बनेगा। अहिंसा की सामूहिक साधना से सामूहिक स्तर पर समाज उच्च से उच्चतर स्तर की ओर जायेगा। संकीर्ण स्वार्थ आधारित प्रेरणा का विकल्प इस मार्ग से निकलेगा।

जिस प्रकार राजसत्ता के माध्यम से अहिंसक स्वराज्य का निर्माण संभव नहीं है, उसी प्रकार शोषणकारी, दोहनकारी एवं अन्याय आधारित अर्थव्यवस्था को समाप्त किये बगैर सच्चे स्वराज्य का निर्माण संभव नहीं है। औपनिवेशिक साम्राज्यवाद के दौरान वैश्विक स्तर पर शोषण एवं दोहन की व्यवस्था तभी बन सकी, जब ग्राम समुदायों एवं लोक समुदायों को खत्म किया गया। लोक समुदायों को पुनः प्रतिष्ठित किये बिना स्वराज्य यानि अहिंसक समाज का निर्माण संभव नहीं है। ऐसे लोक समुदायों में श्रमिक उत्पादन के साधनों से बेदखल नहीं होगा तथा श्रमिक के श्रम का, न तो पूंजीवादी बाजार द्वारा, न ही सामंती व्यवस्था द्वारा शोषण हो सकेगा।

आजादी के तुरंत बाद स्वराज्य की दिशा में हम आगे नहीं बढ़े। हां, यह जरूर हुआ कि पूंजीवादी-नव औपनिवेशिक शोषण से बचने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार हुआ तथा सामंती शोषण से बचने के लिए आधे-अधूरे मन से भूमि सुधार कानून लागू हुए। किन्तु लोक समुदाय नियंत्रित क्षेत्र, जो स्वराज्य की दिशा में ले जाते, उनका निर्माण नहीं हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि जब विश्वबैंक के दबाव में (1970 के बाद) एवं विश्व व्यापार संगठन के दबाव में (1996 के बाद) राजसत्ता ने अपने को सिकोड़ना शुरू किया, तो उस स्थान पर कारपोरेट जगत का नियंत्रण बढ़ता गया। अतः आज लोक स्वराज्य के लिए राजसत्ता से भी और कारपोरेट जगत से भी संघर्ष की रणनीति बनानी होगी।

-बिमल कुमार

आजाद देश और गुलाम देश का फर्क

❑ बलराज साहनी

मशहूर फिल्म अभिनेता और संस्कृतिकर्मी बलराज साहनी, 1972 में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में आमंत्रित थे। समारोह में उपस्थित विद्यार्थियों, शोधार्थियों, शिक्षकों और शिक्षाविदों के सामने अपने संबोधन में उन्होंने जो विचार रखे, प्रस्तुत आलेख उसकी अविकल प्रस्तुति है। कला, साहित्य और संस्कृति के आइने में उन्होंने उस भारत की तस्वीर खींची, जिसे मात्र 25 वर्ष पहले राजनीतिक आजादी हासिल हुई थी। आज हम अपनी आजादी के 75वें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं, पर तस्वीर में कोई खास बदलाव नहीं आया है। आइए, बलराज साहनी के शब्दों में आधी सदी पहले के भारत की एकयात्रा करें। **- सं.**

मुझे अपने विद्यार्थी जीवन की एक घटना याद आ रही है, जिसे मैं कभी भुला नहीं सका, जिसने मेरे मन पर बहुत गहरा असर डाला। मैं अपने परिवार के साथ गर्मियों की छुट्टियां मनाने रावलपिंडी से कश्मीर जा रहा था। भारी बारिश होने के कारण रास्ते में पहाड़ का एक हिस्सा टूटकर गिर गया था, जिसके कारण सड़क बंद हो गयी थी। दोनों तरफ मोटरों की लंबी कतारें लग गयीं। न खाने-पीने का इंतजाम था, न सोने का। पीडब्ल्यूडी के कर्मचारी सड़क की मरम्मत करने के लिए जी-तोड़ मेहनत कर रहे थे, फिर भी ड्राइवर और यात्री उनके पीछे पड़े हुए थे, उन्हें सुस्त और निकम्मा कहकर कोस रहे थे। इसमें काफी समय लगा।

आखिरकार रास्ता खुलने का ऐलान हुआ और ड्राइवरों को हरी झंडी दिखा दी गयी, पर तभी एक अजीब-सी बात हुई। कोई भी ड्राइवर पहले अपनी गाड़ी बढ़ाने को तैयार ही नहीं था। न इस तरफ से और न ही उस तरफ से। सभी खड़े एक-दूसरे का मुंह देख रहे थे। इसमें शक नहीं कि रास्ता कच्चा था और खतरनाक भी। एक तरफ पहाड़ था और दूसरी तरफ खाई व हिलोरे मारता झेलम दरिया। आधा घंटा बीत गया। कोई टस से मस न हुआ। ये वही लोग थे, जो अब तक पीडब्ल्यूडी के कर्मचारियों को आलसी और अकर्मण्यता के लिए कोस रहे थे। इतने में पीछे से एक छोटी-सी हल्के रंग की स्पोर्ट्स कार आती दिखायी दी। एक अंग्रेज उसे चला रहा था। इतने सारे वाहनों और भीड़ को देखकर वह हैरान हुआ। मैं कोट-पतलून पहने जरा बन-ठनकर खड़ा था। उसने मुझसे पूछा, 'क्या हुआ है?' मैंने उसे सारी बात बतायी, तो वह जोर से हंसा और उसी क्षण हार्न बजाता हुआ बिना किसी डर के कार चलाते हुए आगे बढ़ गया।

उसके बाद तो नजारा और भी देखने लायक था। कहां तो कोई माई का लाल गाड़ी स्टार्ट करने के लिए तैयार नहीं था, और अब वे हॉर्न पर हॉर्न बजाते हुए एक साथ वह हिस्सा पार करने लगे। इतनी भगदड़ मची कि रास्ता फिर काफी देर के लिए बंद हो गया। तब मैंने अपनी आंखों से प्रत्यक्ष देखा कि एक आज़ाद देश में पले-बढ़े आदमी और एक गुलाम देश में पले-बढ़े आदमी में क्या फर्क होता है। **आज़ाद आदमी के अंदर कुछ सोचने, फैसला करने और अपने फैसले पर अमल करने की दिलेरी होती है। गुलाम आदमी यह दिलेरी खो चुका होता है। वह हमेशा दूसरे के विचारों को अपनाता है, घिसे-पिटे रास्तों पर चलता है।** इस सबक को मैंने अपनी ज़िंदगी का हिस्सा बना लिया। अपने जीवन में जब भी मैं कोई कठिन निर्णय ले पाया, मैं बहुत खुश हुआ। तब मैं खुद को आज़ाद महसूस करता, मुझे अपना जीवन सार्थक लगा।

फिर भी साफ-साफ कहूं तो ऐसे मौके बहुत कम आए। किसी कठिन निर्णय के समय मैं अक्सर हिम्मत खो देता था और दूसरे लोगों के आसरे हो जाता। अंततः मैंने सुरक्षित रास्ता चुना। मैंने वही फैसले लिए, जो मेरा परिवार मुझसे चाहता था। जो वह बुर्जुआ वर्ग चाहता था, जिससे मैं आता हूं। मेरे ऊपर मूल्यों का एक बोझ-सा डाल दिया गया था। मैं सोचता कुछ और था और करता कुछ और था। इस कारण मुझे बाद में काफी बुरा भी लगता।

मैंने अपने और आपके सामने एक अंग्रेज का उदाहरण रखा है। कोई ये सोच सकता है कि यह मेरे हीनभाव का सबूत है। मैं सरदार भगत सिंह का उदाहरण दे सकता था, जो उसी जमाने में फांसी पर चढ़े थे। मैं महात्मा गांधी का उदाहरण दे सकता था, जिन्होंने पूरा जीवन अपनी ही शर्तों पर जिया। मुझे याद है कि कैसे मेरे कॉलेज के प्रोफेसर, शहर के सम्मानीय और बुद्धिमान लोग गांधी की बातों पर हंसा करते थे कि वह कैसे बिना हथियार के सिर्फ सत्य-अहिंसा से अंग्रेज सरकार को हरा देंगे और देश को आज़ाद करा लेंगे! मेरे शहर के लोग ये सपने में भी नहीं सोच सकते थे कि अपने जीवनकाल में वे देश को आज़ाद हुआ देख सकेंगे। पर गांधीजी को खुद पर, अपने विचारों और अपने देशवासियों पर भरोसा था। शायद आप में से किसी ने नंदलाल बोस द्वारा चित्रित गांधीजी का चित्र देखा होगा। वह एक ऐसे व्यक्ति का चित्र है, जिसमें सोचने का साहस था और उस सोच पर अमल करने की हिम्मत थी। मेरे कॉलेज के समय मुझ पर भगत सिंह या गांधीजी का प्रभाव नहीं था। मैं पंजाब प्रांत के लाहौर में स्थित प्रसिद्ध गवर्नमेंट कॉलेज से अंग्रेजी साहित्य में एमए कर रहा था। इस कॉलेज में सिर्फ सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थियों का चयन होता था। उस समय कॉलेज में दाखिला लेते समय हमें लिखकर देना पड़ता था कि हम राजनीतिक आंदोलनों में हिस्सा नहीं लेंगे। उस समय राजनीतिक आंदोलन का मतलब देश में चल रहे आज़ादी के आंदोलन से था।

इस साल हम आज़ादी की रजत जयंती मना रहे हैं, पर **क्या हम कह सकते हैं कि गुलामी और हीनता का भाव हमारे मन से बिल्कुल दूर हो चुका है? क्या हम दावा कर सकते हैं कि व्यक्तिगत, सामाजिक या राष्ट्रीय स्तर पर**

हमारे विचार, हमारे फैसले और हमारे काम मूलतः हमारे अपने हैं और हमने दूसरों की नकल करनी छोड़ दी है? क्या हम स्वयं अपने लिए फैसले लेकर उन पर अमल कर सकते हैं या फिर हम यूं ही इस नकली स्वतंत्रता का दिखावा करते रहेंगे?

इस बारे में मैं आपका ध्यान फिल्म इंडस्ट्री की तरफ ले जाना चाहूंगा, जहां से मैं आता हूं। एक पढ़े-लिखे बुद्धिमान आदमी के लिए हमारी फिल्में तमाशे से ज्यादा कुछ नहीं हैं। उनकी कहानियां बचकानी, असलियत से दूर और तर्कहीन होती हैं। और ये बात तो आप भी मानेंगे कि उनकी कहानी, तकनीक और यहां तक कि नाच-गाने भी पश्चिम की फिल्मों की अंधी नकल होते हैं। कई बार तो पूरी की पूरी फिल्म ही किसी विदेशी फिल्म की नकल होती है। कोई हैरानी की बात नहीं है कि आप नौजवान लोग इन फिल्मों पर हंसते हैं, पर साथ ही कुछ ऐसे भी हैं जो फिल्म-स्टार बनने के सपने भी देखते होंगे। अच्छी फिल्में, अच्छे नाटक, अच्छा अभिनय, अच्छी चित्रकला आदि सब यूरोप और अमेरिका में ही संभव हैं। हिंदुस्तान के लोग भाषा, संस्कृति आदि कलात्मक भावनाओं के लिहाज से अपरिष्कृत और पिछड़े हुए हैं। ये सब सुनकर हमें बुरा लगता और हम गुस्सा भी हो जाते, पर अंदर से हम ये बात मानने को मजबूर हैं।

आज़ादी के बाद भारतीय कलाओं ने बहुत प्रगति की है। फिल्मों की बात करें तो सत्यजीत रे और बिमल रॉय ऐसे नाम हैं, जो विश्व प्रसिद्ध हो चुके हैं। कई कलाकारों और टेक्नीशियनों की तुलना अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होती है। आज़ादी से पहले हमारे देश में मुश्किल से 10-15 फिल्में ही बनती थीं, जो मशहूर होती थीं। आज हम संसार में सबसे ज्यादा फिल्में बनाने वाले देशों में हैं और इन फिल्मों को सिर्फ हमारे देश की जनता ही नहीं, बल्कि अफगानिस्तान, ईरान, सोवियत यूनियन, मिस्र, अरब, अफ्रीका के अनेक देशों की जनता भी बड़े शौक से देखती है। हमने इस क्षेत्र में हॉलीवुड द्वारा लायी गयी एकरसता को तोड़ा है। अगर सामाजिक जिम्मेदारी के नजरिये से देखा जाए तो हमारी फिल्में नैतिक रूप से अभी उतने निचले स्तर पर नहीं पहुंची हैं; जहां कुछ पश्चिमी देश पहुंच चुके हैं। हिंदुस्तानी निर्माताओं ने अभी लाभ कमाने के लिए अश्लीलता और अपराध का सहारा नहीं लिया है, जैसा अमेरिकी निर्माता सालों से करते आ रहे हैं, बिना ये सोचे कि इससे वे देश में एक गंभीर सामाजिक समस्या को जन्म दे रहे हैं।

इस सबके बावजूद अगर कमी है तो सिर्फ एक बात की कि हम अभी भी नक्काल हैं, इसी एक गलती के कारण हम सभी बुद्धिजीवियों के मजाक का पात्र बनते हैं। हम विदेशों से उधार लिए गए, घिसे-पिटे फॉर्मूले पर फिल्में बनाते हैं। हममें अपने देश के जीवन को अपने ढंग से पेश करने का साहस नहीं है। यह बात मैं सिर्फ हिन्दी या तमिल फिल्मों के बारे में नहीं कह रहा हूं। ये शिकायत तथाकथित प्रगतिवादी और प्रयोगवादी फिल्मों से भी है, चाहे वे बंगाली में हों, हिन्दी में या मलयालम में। मैं सत्यजीत रे, मृणाल सेन, सुखदेव, बासु भट्टाचार्य या राजिंदर सिंह बेदी के काम का बड़ा प्रशंसक हूं। मैं जानता हूं कि वे बहुत ही काबिल और सम्माननीय हैं, लेकिन मैं यह भी कहे बिना नहीं रह सकता कि इनकी फिल्मों पर इटली, फ्रांस, स्वीडन, पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया के फैशन की गहरी छाप है। वे नया कदम जरूर उठाते हैं, पर दूसरों के बाद।

मेरा थोड़ा-बहुत संबंध साहित्य की दुनिया से भी है। यही हालत मैं वहां भी देखता हूं। यूरोपीय साहित्य का फैशन भी हमारे उपन्यासकारों, कहानी-लेखकों और कवियों पर झट से हावी हो जाता है। अगर सोवियत यूनियन को छोड़ दें तो शायद पूरे यूरोप में कोई हिंदुस्तानी साहित्य के बारे में जानता तक नहीं है। उदाहरण के लिए मैं अपने प्रांत पंजाब की ही बात करता हूं। मेरे पंजाब में युवा कवियों की नई पौध सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ इंकलाबी जज्बे से ओत-प्रोत है। इसमें भ्रष्टाचार, अन्याय, शोषण को हटाने और एक नई व्यवस्था बनाने की बात की जाती है। हम इसे नकार नहीं सकते, हमें सामाजिक बदलाव की जरूरत है। इन कविताओं में बातें तो बहुत अच्छी कही जाती हैं, पर इनका स्वरूप देसी नहीं होता। इस पर पश्चिम का प्रभाव है। वहीं की तरह ये मुक्त छंद में हैं, कोई तुकांत नहीं है। यदि वहां के कवियों ने लय और छंद का प्रयोग नहीं किया है तो पंजाबी कवियों को भी यही करना है। इसका परिणाम ये होता है कि ये इंकलाब एक छोटे से कागज पर ही रह जाता है, जिसकी तारीफ बस एक छोटे-से साहित्यिक समझ वाले समूह में हो जाती है पर वे किसान और मजदूर जो इस शोषण को झेल रहे हैं, जिन्हें वे इंकलाब की प्रेरणा देना चाहते हैं, इसे समझ ही नहीं पाते हैं। ये उन पर कोई असर नहीं डालती। अगर मैं ये कहूं कि बाकी हिंदुस्तानी भाषाएं भी इसी 'न्यू वेव' कविताओं के प्रभाव में हैं, तो गलत नहीं होगा।

आज़ादी के 25 साल बाद भी हम वही शिक्षण-प्रणाली ढो रहे हैं, जो मैकाले ने क्लर्क और मानसिक गुलामों को बनाने के लिए बनाई थी। वे गुलाम जो अपने ब्रिटिश मालिकों के बारे में सोच पाने में भी असमर्थ होंगे, वे, जो अपने मालिकों से नफरत करने के बावजूद भी उनकी हमेशा तारीफ करेंगे, उनके जैसे बोलने, कपड़े पहनने, गाने-नाचने में गर्व महसूस करेंगे। ये गुलाम, जो अपने ही लोगों से नफरत करते हैं और बाकियों को भी नफरत का पाठ पढ़ाने के लिए तैयार रहते हैं। क्या अब भी हमें आश्चर्य होगा कि विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों का अपनी शिक्षा-व्यवस्था से विश्वास उठता जा रहा है। एक और बात बताना चाहूंगा। अगर आज से कुछ साल पहले आप दिल्ली के किसी फैशनेबल विद्यार्थी को पतलून के साथ कुर्ता पहनने के लिए कहते तो वह आप पर हंस देता। पर आज यूरोप से आए हिप्पियों और 'हरे रामा हरे कृष्णा' की संस्कृति की नकल में, पतलून के साथ कुर्ता पहनना सिर्फ फैशन ही नहीं बना, बल्कि कुर्ते का नाम 'बुशर्ट' हो गया है।

क्या आप कॉलेज के किसी विद्यार्थी से सिर के बाल और दाढ़ी-मूंछें मुंडवाने के लिए कह सकते हैं, जबकि फैशन इसे बढ़ाने का है? पर अगर कल योग के प्रभाव में आकर यूरोप के विद्यार्थी ऐसा करने लगें तो मैं दावे से कह सकता हूं कि अगले ही दिन कनाट प्लेस पर आपको गंजे सिर ही दिखेंगे। योग को इसकी जन्मभूमि में प्रचलित होने के लिए यूरोप से ही सर्टिफिकेट लेना होगा! मैं एक और उदहारण देता हूं। मैं

हिन्दी फिल्मों में काम करता हूं और सभी जानते हैं कि इन फिल्मों के गीत और संवाद ज्यादातर उर्दू में लिखे जाते हैं। मशहूर उर्दू लेखक और कवि- कृशन चंदर, राजिंदर सिंह बेदी, केए अब्बास, गुलशन नंदा, साहिर लुधियानवी, मजरूह सुल्तानपुरी, कैफी आजमी जैसे नाम इस काम से जुड़े रहे हैं। जब उर्दू में लिखी हुई फिल्म को हिन्दी फिल्म कहते हैं तो ये माना जा सकता है कि हिन्दी और उर्दू एक ही हैं। पर नहीं! क्योंकि हमारे ब्रिटिश मालिकों ने अपने समय पर इन्हें दो अलग भाषाएं कहा था इसलिए ये अलग हैं, पर आज़ादी के बाद भी हमारी हुकूमत, हमारे विश्वविद्यालय और हमारे विद्वान हिन्दी और उर्दू को अलग-अलग भाषाएं माने हुए हैं।

क्या आपने कभी संसार के किसी और देश के बारे में भी ये सुना है कि वहां लोग बोलते एक भाषा हैं, पर लिखते समय वह दो भाषाएं कही जाती हों? कोई भी भाषा किसी भी लिपि में लिखी जा सकती है। मेरी मातृभाषा पंजाबी के लिए दो लिपियां कबूल की गयी हैं। हिंदुस्तान में गुरुमुखी और पाकिस्तान में फारसी। दो लिपियों में लिखी जाने पर भी वह भाषा तो एक ही रहती है। पंजाबी तो दो लिपियों में लिखी जाने के बावजूद एक ही हैं, फिर हिन्दी और उर्दू अलग-अलग भाषाएं कैसे हो गयीं? मैं पूछता हूं कि आज हमारे देश के शासक किस भाषा को अपने प्रतिनिधित्व को मजबूत करने लायक समझते हैं? राष्ट्रभाषा हिन्दी? यहां मेरा अनुमान ये कहता है कि उनके उद्देश्यों की पूर्ति सिर्फ और सिर्फ अंग्रेजी ही कर सकती है। पर चूंकि उन्हें अपनी देशभक्ति का दिखावा भी करना है, इसलिए वे राष्ट्रभाषा हिन्दी की रट लगाए रहते हैं, जिससे जनता का ध्यान भटका रहे। **पूंजीपति भले ही हजारों भगवानों में विश्वास करे पर वह पूजता सिर्फ एक को ही है- मुनाफे का भगवान। इस दृष्टिकोण से उसके लिए आज भी अंग्रेजी ही फायदेमंद है। औद्योगीकरण और तकनीकी विकास के इस दौर में अंग्रेजी ही फायदेमंद है। शासक वर्ग के लिए तो अंग्रेजी गॉड-गिफ्ट ही है।**

अंग्रेजी भारत के आम मेहनतकश लोगों के लिए एक मुश्किल भाषा है। पहले के समय में फारसी और संस्कृत इन मेहनतकशों की पहुंच से दूर थीं, इसीलिए शासक वर्ग ने उन्हें राजभाषा का दर्जा दिया था, जिससे वे जनसाधारण में असभ्य, अशिक्षित होने की हीनता व आत्मग्लानि की भावनाएं पैदा करती रहें और वे खुद को कभी शासन के योग्य ही न बना पाएं। आज यही रोल अंग्रेजी भाषा अदा कर रही है। यही आज भारत का शासक वर्ग कर रहा है। वह देश में इंकलाब नहीं चाहता, कोई बुनियादी तब्दीली नहीं चाहता। अंग्रेजों से मिली हुई व्यवस्था को उसी प्रकार कायम रखने में उसका फायदा है। पर वह खुलेआम अंग्रेजी को अंगीकार नहीं कर सकता। राष्ट्रीयता का कोई न कोई आडंबर खड़ा करना उसके लिए जरूरी है। इसीलिए वह संस्कृतवादी हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करने का ढोंग करता है। उसे पता है कि संस्कृत शब्दों के बोझ तले दबी नकली और बेजान राष्ट्रभाषा अंग्रेजी के मुकाबले में खड़ी होने का सामर्थ्य अपने अंदर कभी भी पैदा नहीं कर सकेगी।

कोई भी देश तभी उन्नति कर सकता है, जब वह अपने अस्तित्व से पूरी तरह वाकिफ हो। इसे अपने लिए सोचना-सीखना होगा। इसे अपनी समस्याओं का समाधान खुद तलाशना होगा। पर मैं जिस ओर भी देखता हूं, मुझे लगता है कि हमारी हालत अभी भी उस पक्षी जैसी है, जो लंबी कैद के बाद पिंजरे से आज़ाद तो हो गया हो, पर उसे नहीं पता कि इस आज़ादी का करना क्या है। उसके पास पंख हैं पर वह खुले आसमान में उड़ने से डरता है। वह सिर्फ उस सीमा में ही रहना चाहता है, जो उसके लिए निर्धारित की गयी है। व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से हम वॉल्टर मिटी (एक उपन्यास का काल्पनिक चरित्र, जो एक काल्पनिक दुनिया में ही रहता है) जैसी ज़िंदगी ही जी रहे हैं। हमारे अंदर की ज़िंदगी बाहर की ज़िंदगी से बिलकुल उलट है। हमारी सोच और कामों में जमीन-आसमान का अंतर है। हम बदलाव तो चाहते हैं पर बरसों से चली आ रही लीक से हटकर सोच पाने का साहस नहीं जुटा पाते।

1930 में जब महात्मा गांधी गोलमेज सम्मेलन के लिए इंग्लैंड गए थे, तो उन्होंने इंग्लैंड के पत्रकारों को संबोधित करते हुए कहा था, **'हिंदुस्तान के लोग ब्रिटिश सरकार की बंदूकों और मशीनगनों को उसी तरह देखते हैं, जिस तरह दीवाली के दिन उनके बच्चे पटाखों को देखते हैं।' यह दावा वे क्यों कर सके? इसलिए कि उन्होंने हिंदुस्तानियों के दिलों में से अंग्रेज शासकों का डर निकाल दिया था। आम लोग अंग्रेज शासकों को इज्जत की जगह नफरत से देखने और उनके साथ असहयोग करने लगे थे। यह साहस महात्मा गांधी ने निहत्थे हिंदुस्तानियों के दिलों में भरा था।**

आज अगर हम सचमुच चाहते हैं कि हमारे देश में समाजवाद (समानता, स्वावलंबन) आए, तो जनसाधारण को पैसे और रुतबे की छाया से आज़ाद कराने की जरूरत है। पर इस समय असलियत क्या है? हर तरफ पैसे और रुतबे का बोलबाला है। समाज में इज्जत उसकी ही है, जिसके पास मोटरें हैं, बंगले हैं, दौलत का दरिया बहता है। क्या कभी ऐसी हालत में बराबरी या समाजवाद आ सकता है? समाजवाद से पहले हमें वह माहौल लाना होगा, जहां सिर्फ धन-दौलत का होना ही सम्मान देने का पैमाना न बने। हमें ऐसा माहौल बनाना होगा जहां सबसे ज्यादा सम्मान उस गरीब या मजदूर को मिले जो चाहे शारीरिक मेहनत करता हो या मानसिक। अपने कौशल के साथ मेहनत करता हो या प्रतिभा के साथ। अपनी कला से देश की सेवा कर रहा हो या किसी आविष्कार से। इसके लिए पुरानी सोच को छोड़कर एक नई सोच लाने की जरूरत होगी। क्या हम कहीं से भी खुद में उस क्रांति या परिवर्तन को लाने के लिए तैयार हैं? ❑

आभार!

सर्वोदय जगत के इस अंक का प्रकाशन भगवान सिंह, अध्यक्ष, उत्तर प्रदेश सर्वोदय मंडल, ग्राम-नगला शर्की, पोस्ट व जिला-बदायूं-243601 के आर्थिक सहयोग से किया गया है।

इस सहयोग हेतु भगवान सिंह के प्रति सर्व सेवा संघ आभार प्रकट करता है।

साझी शहादत का गवाह है 1857

❑ शमसुल इस्लाम

10 मई 1857, दिन रविवार को छिड़े भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में देश के हिंदुओं, मुसलमानों और सिखों ने मिलकर विश्व की सबसे बड़ी साम्राज्यवादी ताक़त को चुनौती दी थी। इस अभूतपूर्व एकता ने अंग्रेज़ शासकों को इस बात का अच्छी तरह अहसास करा दिया था कि अगर भारत पर राज करना है तो देश के सबसे बड़े दो धार्मिक समुदायों; हिंदू-मुसलमान के बीच सांप्रदायिक बँटवारे को अमल में लाना होगा और देश के इन दो बड़े धार्मिक संप्रदायों के बीच दूरी पैदा कराने के लिए भरसक प्रयास करने होंगे।

यही कारण था कि संग्राम की समाप्ति के बाद इंग्लैंड में बैठे भारतीय मामलों के मंत्री (लॉर्ड वुड) ने भारत में अंग्रेज़ी राज के मुखिया (लॉर्ड एल्गिन) को यह निर्देश दिया कि अगर भारत पर राज करना है तो हिंदुओं और मुसलमानों को लड़वाना होगा और ''हम लोगों को वैसा सब कुछ करना चाहिए, ताकि उन सब में एक साझी भावना का विकास न हो।'' इस दर्शन को अमल में लाने के लिए गोरे शासकों और उनके भारतीय चाटुकारों ने यह सिद्धांत पेश किया कि हिंदू और मुसलमान हमेशा से ही दो अलग क़ौमें रही हैं। सच तो यह है कि सांप्रदायिक राजनीति को हवा देना और भारतीय समाज को धर्मों के आधार पर बाँटना अंग्रेजों की एक मजबूरी बन गयी थी।

1857 के स्वतंत्रता संग्राम में, जिसको अंग्रेज़ शासकों ने 'फ़ौजी बग़ावत' का नाम दिया था, हिंदुओं-मुसलमानों-सिखों के व्यापक हिस्से एकजुट होकर ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन के ख़िलाफ इतनी बहादुरी से लड़े और कुर्बानियां दीं कि फ़िरंगी शासन विनाश के कगार पर पहुंच गया। हालांकि अंग्रेज़ जीत गए लेकिन यह गद्दारों और जासूसों द्वारा रचे गए षडयंत्रों की वजह से ही संभव हो सका।

इस महान स्वतंत्रता संग्राम की यह सच्चाई किसी से छुपी नहीं है कि इसका नेतृत्व नाना साहब, दिल्ली के बहादुरशाह ज़फ़र, मौलवी अहमद शाह, तात्या टोपे, खान बहादुर खान, रानी लक्ष्मी बाई, हज़रत महल, अज़ीमुल्लाह खान और शहज़ादा फिरोज़शाह ने मिलकर किया। इस संग्राम में मौलवी, पंडित, ग्रंथी, ज़मींदार, किसान, व्यापारी, वकील, नौकर, महिलाएं, छात्र और सभी जातियों-धर्मों के लोग भी शामिल हुए और अपनी जानों की कुर्बानियां दीं।

हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिकता के मौजूदा झंडाबरदारों को इस ऐतिहासिक सच्चाई से अवगत कराना ज़रूरी है कि 11 मई, 1857 को जिस क्रांतिकारी सेना ने मुसलमान बहादुर शाह ज़फ़र को भारत का स्वतंत्र शासक घोषित किया था, उसमें 70 प्रतिशत से भी ज्यादा सैनिक हिंदू थे। बहादुर शाह ज़फ़र को बादशाह बनाने में नाना साहब, तात्या टोपे और लक्ष्मी बाई ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

1857 के संग्राम से संबंधित समकालीन दस्तावेज़ देश के चप्पे-चप्पे पर घटी ऐसी दास्तानों से भरे पड़े हैं, जहां मुसलमान, हिंदू और सिख इस बात की परवाह किए बिना कि कौन नेतृत्व कर रहा है, और कितनी भारी कीमत चुकानी पड़ सकती है, एक होकर लड़े और 1857 की जंगे-आज़ादी में एक साथ प्राणों की आहुति दी। उस समय की सच्चाइयां बहुत स्पष्ट रूप से यह बताती हैं कि हिंदू-मुसलमान पृथकतावाद और दोनो संप्रदायों के बीच विद्वेष का अस्तित्व उस समय एक समस्या के रूप में मौजूद नहीं था। विभिन्न धर्मों के लोगों ने जिस तरह की साझी शहादत की दास्ताने रचीं उसके कुछ उदाहरण जो समकालीन दस्तावेज़ों में उपलब्ध हैं, यहाँ पर प्रस्तुत हैं :

दिल्ली

फ़िरंगियों ने दिल्ली (जिसे 11 मई 1857 के दिन इंकलाबियों ने अंग्रेज़ी शासन से मुक्त कराकर स्वतंत्र भारत की राजधानी घोषित किया था) पर कब्जे को अपनी नाक का सवाल बना लिया था। उनको लगता था कि अगर एक बार दिल्ली हाथ में आ गई तो पूरे देश में भड़के हुए संग्राम को दबाना मुश्किल नही होगा।

1857 में जून से लेकर सितम्बर माह तक अंग्रेज़ी सेना ने दिल्ली की ज़बरदस्त घेराबंदी की हुई थी और उनका लगातार यह प्रयास चला था कि दिल्ली में मौजूद इंकलाबी सेना और लोगों को धर्म के नाम पर बांटा जाए। लेकिन समकालीन दस्तावेज़ इस सच्चाई को रेखांकित करते हैं कि अंग्रेज़ों के खादिमों और जासूसों की तमाम कोशिशों के बावजूद हिंदू-मुसलमान-सिख मिलकर दिल्ली की हिफाज़त करते रहे।

दिल्ली की इंक़लाबी सेना की कमान जिन लोगों के हाथों मे थी उन लोगों के नाम थे - मोहम्मद बख़्त, सिघारी लाल, ग़ौस मोहम्मद, सिरधारा सिंह और हीरा सिंह। इंकलाबी सेना, जिसे फ़िरंगी 'पुरबिया' सेना कहते थे, उसमें भी विशाल बहुमत हिंदुओं का ही था।

हिंदू-मुसलमान एकता किस उत्तम दर्जे की थी, इसका अंदाजा उस घटना से लगाया जा सकता है, जब अंग्रेज़ों के हमले का मुकाबला करने के लिए शाहजहां के जमाने की एक तोप को ठीक-ठाक करके मोर्चे पर लगाया जा रहा था। इस तोप को पहली बार चलाने से पहले बहादुरशाह ज़फ़र और दूसरे सैनिक अधिकारियों की मौजूदगी में पंडितों ने इसकी आरती उतारी, मालाएं चढ़ायी और आशीर्वाद दिया। अंग्रेज़ जासूस सांप्रदायिक ज़हर न फैला पाएं, इसलिए इंकलाबी सेना ने दिल्ली में भी गौ-वध पर प्रतिबंध की घोषणा करते हुए यह ऐलान किया कि जो भी ऐसा करते हुए पाया जाएगा उसे तोप से उड़ा दिया जायेगा।

हरियाणा

हांसी (हरियाणा में) में अंग्रेज़ शासकों के ख़िलाफ हुकुमचंद जैन और मुनीर बेग का साझा महान प्रतिरोध इस सिलसिले का एक जीता जागता उदाहरण है। हुकुमचंद जैन, हांसी और कारनाल के कानूनगो, फ़ारसी और गणित के विद्वान और अपने क्षेत्र के एक बड़े जमींदार थे। 1857 के संग्राम की भनक मिलते ही वे दिल्ली दरबार पहुंचे, जहां तात्या टोपे भी मौजूद थे। उन्होंने अपने क्षेत्र में इंकलाब का बीड़ा उठाया और अपने करीबी साथी मिर्ज़ा मुनीर बेग के साथ, जो खुद भी फ़ारसी और गणित में पारंगत थे, मिलकर सशस्त्र विद्रोह की तैयारियां शुरू की। इन दोनों ने मिलकर इंक़लाबी सेना के दिल्ली नेतृत्व के साथ मिलकर आज के हरियाणा क्षेत्र को अंग्रेज़ों की दासता से मुक्त कराने की रणनीति बनाई।

एक निर्णायक युद्ध में दिल्ली से सहायता न पहुंच पाने और कुछ अंग्रेज़ों के दलाल राजाओं की ग़द्दारी की वजह से इन्हें हार का सामना करना पड़ा। सितम्बर के अंत में इंकलाबियों के हाथ से दिल्ली निकल जाने के बाद इन दोनों को झाँसी में गिरफ्तार किया गया और मौत की सज़ा सुनायी गयी। अंग्रेज़ शासक इन दोनों से इतने खौफ़-ज़दा और हिंदू-मुसलमान एकता की इस शानदार मिसाल से इतने परेशान थे कि उन्होंने 19 जनवरी 1858 को फांसी देने के बाद हुकुमचंद जैन को दफ़नाया जबकि मुनीर बेग को जला दिया गया था। अंग्रेज़ों द्वारा किए गए इस कुकर्म का एकमात्र उद्देश्य दो धर्मों के अनुयाइयों की एकता का मज़ाक उड़ाना और उन्हें ज़लील करना था। फ़िरंगियों ने एक और शर्मनाक काम यह किया कि, बहादुर हुकुमचंद जैन के 13 वर्षीय भतीजे फ़कीरचंद जैन को भी हांसी में सार्वजनिक तौर पर फांसी दे दी क्योंकि इस बच्चे ने उन्हें फांसी देने का विरोध किया था।

अयोध्या

आज स्वतंत्र भारत में अयोध्या हिंदू-मुसलमानों के बीच में नफ़रत फैलाने का एक बड़ा मुद्दा बनकर उभरा है। बाबरी मस्जिद-रामजन्म भूमि विवाद ने दोनों संप्रदायों के बीच में अविश्वास और हिंसा के माहौल को निर्मित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। लेकिन 1857 में इसी अयोध्या में किस तरह मौलवी और महंत व साधारण हिंदू-मुसलमान-सिख अंग्रेज़ी राज के ख़िलाफ़ एक होकर लड़ते हुए फांसी के फंदों पर झूल गए, इसकी अनगिनत दास्तानें हैं।

मौलाना अमीर अली अयोध्या के एक मशहूर मौलवी थे और वहां के प्रसिद्ध हनुमानगढ़ी मंदिर के पुजारी बाबा रामचरण दास थे। अंग्रेज़ों के साथ युद्ध में दोनों को बंदी बनाया गया और अयोध्या में कुबेर टीले पर इमली के पेड़ पर एक साथ फांसी पर लटका दिया गया।

अयोध्या ने ही इस संग्राम के दो विभिन्न धर्मों से संबंध रखने वाले दो और ऐसे नायक पैदा किए जिन्होंने अंग्रेज़ी फ़ौज को नाकों चने चबवा दिए। अच्छन ख़ान और शंभू प्रसाद शुक्ला दो दोस्त थे, जिन्होंने ज़िला फैजाबाद में राजा देबीबख्श सिंह की क्रांतिकारी सेना की कमान संभाली हुई थी।

एक युद्ध के दौरान इनको बंदी बनाया गया और समकालीन सरकारी दस्तावेज इस शर्मनाक सच्चाई को उजागर करते हैं कि इन दोनों क्रांतिकारियों की जान लेने से पहले उन्हें भयानक यातनाएं दी गयीं और दोनों के गले सार्वजनिक रूप से रेते गए। अयोध्या, जिसने हिंदू-मुसलमान एकता के पौधे को खून से सींचा था, वह स्थली बाद में क्यों अंग्रेज़ शासकों की फूट डालो और राज करो नीति का एक मुख्य मुकाम बनकर उभरी, इसको समझना ज़रा भी मुश्किल नहीं है।

1857 के संग्राम से संबंधित समकालीन दस्तावेज़ देश के चप्पे-चप्पे पर घटी ऐसी दास्तानों से भरे पड़े हैं, जहां मुसलमान, हिंदू और सिख इस बात की परवाह किए बिना कि कौन नेतृत्व कर रहा है, और कितनी भारी कीमत चुकानी पड़ सकती है, एक होकर लड़े और 1857 की जंगे-आज़ादी में एक साथ प्राणों की आहुति दी। उस समय की सच्चाइयां बहुत स्पष्ट रूप से यह बताती हैं कि हिंदू-मुसलमान पृथकतावाद और दोनो संप्रदायों के बीच विद्वेष का अस्तित्व उस समय एक समस्या के रूप में मौजूद नहीं था।

राजस्थान

कोटा रियासत (राजस्थान) पर अंग्रेज़ परस्त महाराव का राज था। यहां के एक राज दरबारी थे, राजा जयदयाल भटनागर जो उर्दू-फ़ारसी और अंग्रेज़ी भाषाओं पर समान महारथ रखते थे, इन्होंने महाराव और अंग्रेज़ शासकों के ख़िलाफ बग़ावत का झंडा बुलंद किया। इस विद्रोह में इनका साथ देने वालों में प्रमुख थे, वहां के सेनापति मेहराब ख़ान।

इन लोगों ने मिलकर देश भर के अन्य

क्रांतिकारी समूहों से संपर्क स्थापित किया और कोटा में अंग्रेज़ अधिकारियों और सैनिकों पर हमला बोला। बाद में ये लोग लक्ष्मीबाई के साथ कई मोर्चों पर अंग्रेज़ सेना से लोहा लेते रहे। लाला जयदयाल 1860 तक अंग्रेज़ों के हाथ नहीं लगे लेकिन उसी साल 15 अप्रैल को जयपुर में गिरफ्तार किए गए और कोटा में 17 सितंबर 1860 को फांसी पर लटकाए गए। मेहराब खान को भी अंग्रेज़ 1860 में ही गिरफ्तार कर सके और उन्हें भी कोटा में सार्वजनिक रूप से फांसी दी गयी।

मध्य भारत

मध्यप्रदेश के मालवा क्षेत्र में अंग्रेज़ फ़ौज़ों को लगातार छकाने वाली जो इंक़लाबी सेना सक्रिय रही, उसके साझे नायक तात्या टोपे, राव साहब, फ़िरोज़ शाह और मौलवी फ़ज़ल हक़ थे। इन लोगों ने मिलकर अंग्रेज़ों से जितनी लड़ाइयां जीती, उस तरह की मिसालें कम ही मिलती हैं। मौलवी फ़ज़ल हक़ अपने 480 हिंदू-मुसलमान-सिख साथियों के साथ 17 दिसंबर, 1858 को रानौड़ के युद्ध में शहीद हुए। तात्या टोपे 1859 तक स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व करते रहे और 18 अप्रैल, 1859 को ग्वालियर के सिंधिया राजघराने की ग़द्दारी की वजह से बंदी बनाए गए और सिंधिया की रियासत में स्थित शिवपुरी में फांसी पर लटकाए गए।

मध्य भारत में रानी लक्ष्मी बाई के इंक़लाबी प्रतिरोध से सभी वाक़िफ़ हैं। लेकिन लोग यह नहीं जानते कि रानी लक्ष्मी बाई के तोप खाने के मुखिया एक पठान, गुलाम ग़ौस खान थे। रानी की घुड़सवार सेना के मुखिया भी एक मुसलमान खुदाबख़्श थे। जब झांसी पर अंग्रेज़ों ने हमला बोला तो झांसी के क़िले में रानी की सेना का नेतृत्व करते हुए दोनों 4 जून, 1858 को शहादत पा गए। इस सच्चाई से भी बहुत कम लोग वाक़िफ़ हैं कि लक्ष्मी बाई की निजी सुरक्षा अधिकारी एक मुसलमान महिला मुंदार मुंज़र थीं। उन्होंने रानी का साया बनकर झांसी, कूंच, कालपी और ग्वालियर के युद्धों में अंग्रेज़ी सेना का मुकाबला किया। कोटा-की-सराए (ग्वालियर) युद्ध में वे रानी के साथ लड़ते हुए 18 जून, 1858 को शहीद हुईं।

रुहेलखंड के इलाके में खान बहादुर खान के नेतृत्व में बहादुर शाह ज़फ़र की सहमति से स्वतंत्र राज स्थापित कर लिया गया था। बहादुर खान के मुख्य सहयोगी खुशी राम थे। इन्होंने मिलकर रुहेलखंड का राजकाज चलाने के लिए आठ सदस्यों वाली हिंदू और मुसलमानों की साझी समिति का गठन किया। चाहकर भी अंग्रेज़ दोनों संप्रदायों के बीच दंगा न करा पाए।

दिल्ली में इंक़लाबी शासन के पतन के बाद अंग्रेज़ों ने अपना निशाना रुहेलखंड को ही बनाया। खान बहादुर खान, खुशी राम और उनके 243 सहयोगियों को एक ही दिन 20 मार्च, 1860 को बरेली कमिश्नरी के सामने सामूहिक फांसी दी गई। अंग्रेज़ शासकों ने इन क्रांतिकारियों की अंत्येष्टि करने पर भी प्रतिबंध लगा दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि इनके शव बहुत दिनों तक सूलियों पर झूलते रहे।

1857 के संग्राम के दौरान हिंदू-मुसलमान-सिख एकता किसी एक क्षेत्र और समूह तक सीमित नहीं थी। इन धर्मों के अनुयायियों के बीच एकता एक ज़मीनी सच्चाई थी, जिससे महिलाएं भी अछूती नहीं थीं। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के मुज़्फ्फरनगर ज़िले के परगना थाना-भवन में ही 11 महिलाओं को अंग्रेजों के ख़िलाफ़ बग़ावत करने के जुर्म में एक साथ फांसी पर चढ़ाया गया। असगरी बेगम, जो अंग्रेज़ो के ख़िलाफ़ शस्त्र विद्रोह में नेतृत्वकारी भूमिका निभाती रहीं। अंग्रेजों ने इन्हें बंदी बनाकर ज़िंदा जला दिया।

इस क्षेत्र की एक अन्य इंकलाबी महिला का नाम आशा देवी था, जो गूजर परिवार में पैदा हुई थीं। इन्हें भी अंग्रेज़ी सरकार के ख़िलाफ़ हथियार उठाने के जुर्म में 1857 में फांसी दी गयी। एक अन्य नौजवान महिला भगवती देवी थीं, जो त्यागी परिवार में पैदा हुई थीं, जो फांसी पर लटकायी गयीं। इसी क्षेत्र से एक और महिला हबीबा थीं, जिनका संबंध एक मुसलमान गूजर परिवार से था। हबीबा ने अंग्रेज़ी सेना के ख़िलाफ़ मुजफ्फरनगर के आसपास विभिन्न युद्धों में हिस्सा लिया और आखिरकार गिरफ्तार करके सूली पर लटकायी गयीं। इसी क्षेत्र से एक अन्य नौजवान महिला माम कौर, जिनका संबंध चरवाहों के परिवार से था, ने भी 1857 के संग्राम के आरंभिक दौर में ही फांसी के फंदे को चूमा। 1857 के संग्राम में देश का चप्पा-चप्पा इस तरह की दास्तानों से भरा पड़ा है।

विलियम रसल लंदन के एक अखबार 'द टाइम्स' का संवाददाता बनकर 'बग़ावत' का आँखों-देखा हाल भेजने के लिए भारत आया था। उसने 2 मार्च 1858 को भेजी गई अपनी रपट में लिखा कि- ''अवध के तमाम मुख्य सरदार, चाहे वे मुसलमान हो या हिंदू, एक हो गए है और शपथ ले चुके है कि वे अपने नौजवान बादशाह, बिरजिस कदर के लिए अपने खून का आख़िरी क़तरा भी बहा देगें।''

एक अन्य अंग्रेज़ अफ़सर, थामसरो ने मध्य भारत में अंग्रेज़ सेना के अभियानों में लगातार हिस्सेदारी की थी। उस क्षेत्र में 'बाग़ियों' की स्थिति का वर्णन करते हुए उसने अपने संस्मरणों में लिखा कि, ''राजपूत, ब्राहमण, मुसलमान और मराठा, खुदा और मोहम्मद को याद करने वाले और ब्रह्म की स्तुति करने वाले सब इस जंग में हमारे ख़िलाफ़ थे।''

फ्रेड राबर्ट्स, एक अंग्रेज़ सेना-नायक था, जो लखनऊ पर कब्ज़ा करने वाले अभियान में शामिल था। यहां भी अंग्रेज सेना, जासूसों और षडयंत्रों की मदद से लखनऊ में दाखिल हो सकी थी। फ्रेड ने लखनऊ पर आक्रमण की नवम्बर, 1857 की दास्तान एक पत्र में बयान करते हुए लिखा कि जब वे शहर में दाखिल हुए तो सैकड़ों हिंदू-मुसलमान-सिख 'बागी' बुरी तरह जख़्मी होकर सड़कों पर पड़े थे और आगे बढ़ने के लिए उनपर चढ़कर गुज़रना होता था। वे मरते हुए भी हमारे प्रति अपनी नफ़रत का इज़हार कर रहे थे और गालियां बकते हुए कह रहे थे कि हम बस खड़े हो जाएं, फिर तुम्हें ज़िंदा नहीं छोड़ेगें।

ख़राब से ख़राब हालात में भी हिंदू-मुसलमान-सिख इस तरह की साझी शहादतों की अनगिनत मिसालें पूरे देश में पेश कर रहे थे। आज भी ये सच्चाइयां अंग्रेज़ी हुकूमत के अभिलेखागारों, लोगों के निजी संग्रहों और वृत्तांतों में सुरक्षित हैं। **-समकालीन जनमत**

❑ *शम्सुल इस्लाम, प्रसिद्ध राजनीतिक चिंतक हैं. दिल्ली विश्वविद्यालय में एसोसिएट प्रोफ़ेसर रहे हैं।*

भारत विभाजन की साजिश में कौन लोग शामिल थे!

❑ जयसिंह रावत

आजादी के 74 साल बाद यह सवाल आज भी खड़ा है कि आखिर 'भारत के विभाजन' की साजिश में कौन लोग शामिल थे, जिसके कारण देश टूटा, लाखों लोगों की जाने गयीं और लाखों परिवार शरणार्थी हो गये। भारत विभाजन की योजना अंग्रेजों की थी, जिसे जिन्ना और सावरकर का सहयोग मिला. पढ़िए देहरादून से वरिष्ठ पत्रकार जयसिंह रावत का शोधपूर्ण आलेख. **-सं.**

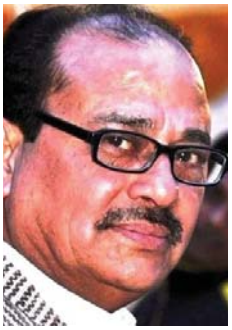

विश्व के इतिहास में 1947 का वर्ष दो नये सम्प्रभु राष्ट्रों के जन्म और विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र के उदय के लिए तो सदैव याद रहेगा ही, लेकिन इस ऐतिहासिक वर्ष के इतिहास के सुनहरे पन्नों के साथ एक ऐसा काला पन्ना भी जुड़ा, जिसमें अब तक के सबसे बड़े मानव पलायन और भयंकर दंगों में मारे गये लाखों लोगों के खून के छींटे तथा बेसहारा विधवाओं और अनाथों की सिसकियां भी जुड़ी हुई हैं। इसीलिए आजादी के 74 साल बाद यह सवाल आज भी खड़ा है कि आखिर देश के विभाजन के लिए जिम्मेदार कौन था, जिसके कारण देश भी टूटा और लाखों लोगों की जाने गयीं तथा लाखों परिवार शरणार्थी हो गये?

बंटवारे के अपने-अपने भाष्य

देश के बंटवारे के लिए अलग-अलग पक्ष अपनी सुविधानुसार घटनाक्रम का विश्लेषण करते रहे हैं। बंटवारे के लिए मोहम्मद अली जिन्ना और मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, कांग्रेस और अंग्रेजी हुकूमत को दोषी ठहराया जाता रहा है।

सोशल मीडिया पर तो सुनियोजित तरीके से नेहरू के साथ ही महात्मा गांधी को भी घसीटा जा रहा है। सावरकर के अनुयायी तक नेहरू को दोष देते हैं, जबकि पाकिस्तानी मूल के प्रोफेसर इश्तियाक अहमद जैसे इतिहासकार भी हैं, जो इस बंटवारे के लिए सीधे तौर पर ब्रिटिश हुकूमत को जिम्मेदार मानते हैं। वे कहते हैं कि जिन्ना और मुस्लिम लीग तो अंग्रेजों के टूल मात्र थे तथा हिन्दू और मुस्लिम कट्टरपंथी, अंग्रेजों का मिशन आसान कर रहे थे। सत्ता हस्तान्तरण में जल्दबाजी को भी दंगों के लिए जिम्मेदार ठहराया गया है। कुछ इतिहासकार मानते हैं कि जब भारत का विभाजन अवश्यंभावी हो गया था, तो भी दंगों में इतना बड़ा नरसंहार टाला जा सकता था।

भारत एक साल पहले आजाद हो गया

सैन्य इतिहासकार वार्ने ह्वाइट स्पनर ने अपनी पुस्तक 'द स्टोरी आफ इण्डियन इंडिपेंडेंस एण्ड क्रिएशन आफ पाकिस्तान इन 1947' में लिखा है कि ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली ने 20 फरवरी 1947 को हाउस आफ कामंस में बयान दिया था कि ब्रिटेन जून 1948 तक भारत छोड़ देगा और माउंटबेटन से फील्ड मार्शल आर्चिबाल्ड वावेल वायसराय की जिम्मेदारी संभालेंगे। वावेल को 31 जनवरी 1947 को ही एटली की ओर से मार्चिंग आर्डर मिल चुका था, लेकिन वायसराय माउंटबेटन ने बिना तैयारी के समय पूर्व ही 3 जून 1947 को कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं के साथ एक साझा प्रेस कान्फ्रेंस में भारत की आजादी की घोषणा कर दी।

स्पनर के अनुसार नेहरू को विश्वास नहीं था कि भारत में धर्म का इतना बोलबाला है। जिन्ना पंजाब को नहीं समझते थे। माउंटबेटन शायद ही भारत को जानते थे। बहरहाल 15 अगस्त 1947 की आधी रात को भारत और पाकिस्तान कानूनी तौर पर दो स्वतंत्र राष्ट्र बन गये। इस तरह पश्चिमी पंजाब के 12 मुस्लिम बहुल जिले तथा पूर्वी बंगाल के 16 जिले पाकिस्तान को दे दिये गये। मगर बंटवारे के बाद हुए इतिहास के सबसे बड़े मानव पलायन और लाखों लोगों के संहार की बेहद कड़वी यादें, खुशी के पलों की स्मृतियों का पीछा शायद ही कभी छोड़ेंगी। एक अनुमान के अनुसार इन दंगों में 10 से 15 लाख लोग मारे गये थे।

अंग्रेज पहले जाते तो बंटवारा नहीं होता

सैन्य इतिहासकार वार्ने ह्वाइट स्पनर के अनुसार प्रथम विश्वयुद्ध में भारत के असाधारण योगदान के बदले ब्रिटिश हुकूमत को 1919 में ही भारत को सत्ता सुपुर्द कर देनी चाहिए थी। तब भारत के बंटवारे की बात नहीं आती। दूसरा मौका अंग्रेजों ने 1935 में भारत सरकार अधिनियम लागू करते समय गंवाया। उस समय भी पाकिस्तान की मांग ने जोर नहीं पकड़ा था। 1947 तक तो ब्रिटेन का नियंत्रण बहुत ढीला हो गया था।

रूस को दूर रखने के लिए किया विभाजन

स्टॉकहोम विश्वविद्यालय में पाकिस्तानी मूल के राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर इमैरिटस और प्रोफेसर इश्तियाक अहमद का मानना है कि

सबसे पहले 1933 में आयोजित तीसरे गोलमेज सम्मेलन में रहमत अली ने मुस्लिमों के लिए अलग देश का जिक्र किया था। इधर सन् 1933 में ही अहमदाबाद में आयोजित हिन्दू महासभा के सम्मेलन में विनायक दामोदर सावरकर ने हिन्दू और मुस्लिम दो अलग राष्ट्रों की मांग उठाई थी। सन् 1945 में सावरकर ने पुनः कहा कि दो राष्ट्रों के मुद्दे पर उनका जिन्ना के साथ कोई मतभेद नहीं है।

सोवियत यूनियन को दक्षिण एशिया से दूर रखने के लिए ही ब्रिटेन ने भारत का विभाजन कराया था, क्योंकि उनको मोहम्मद अली जिन्ना जैसा एक कठपुतली शासक चाहिए था और ऐसी अपेक्षा उनको नेहरू से कतई नहीं थी। ब्रिटेन की चाल का फायदा बाद में अमेरिका उठाता रहा। प्रोफेसर इश्तियाक ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक ''पाकिस्तान अ गैरिजन स्टेट'' में भारत के विभाजन के तमाम घटनाक्रम और उन तमाम परिस्थितियों का विस्तार से वर्णन किया है।

बंटवारे की शुरुआत 1905 में ही कर दी थी

इतिहासकार मानते हैं कि सन् 1905 में धर्म के आधार पर बंगाल का बंटवारा कर अंग्रेजों ने

भारत के विभाजन की बुनियाद रख दी थी। उसके बाद 1909 में इंडियन काउंसिल एक्ट में केन्द्रीय और प्रान्तीय एसेम्बलियों में मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचक मण्डल की व्यवस्था कर अंग्रेजों ने अलगाव की राह और स्पष्ट कर दी थी। इस ऐक्ट का कांग्रेस ने विरोध किया था। बाद में यही ऐक्ट कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच 1916 के लखनऊ समझौते का आधार बना, जिसमें अल्पसंख्यकों के लिए प्रान्तीय एसेम्बलियों में एक तिहाई आरक्षण के बदले मुस्लिम लीग कांग्रेस के स्वशासन के आन्दोलन में शरीक हुई।

मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा बंटवारे के दोषी

देखा जाय तो भारत के बंटवारे के लिए हिन्दू और मुस्लिम कट्टरपंथियों की बराबर भूमिका थी और अंग्रेजों ने कांग्रेस के खिलाफ इन

दूसरे विश्व युद्ध में सोवियत संघ के सहयोगी होने के बावजूद ब्रिटेन सदैव कम्युनिस्टों के खिलाफ था और वह कम्युनिस्ट ब्लॉक के आगे पाकिस्तान के रूप में बफर जोन चाहता था। उसको डर था कि रूस अरब सागर की ओर आयेगा। रूसी क्रांति के बाद पश्चिमी देशों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म का खतरा उत्पन्न हो गया। उन्होंने पाकिस्तान के जरिये ही अफगान जेहाद कराया। बाद में ब्रिटेन की जगह अमेरिका ने अफगान जेहाद के खिलाफ पाकिस्तान का इस्तेमाल किया।

दोनों को बढ़ावा दिया क्योंकि वे उनसे नहीं लड़ रहे थे, जबकि 1942 में 'भारत छोड़ो आंदोलन' के दौरान लगभग सभी बड़े कांग्रेसी नेताओं को जेल में डाल दिया गया था। ऐसे में लीगी-महासभाई तत्व मजहबी जुनून से बंटवारे की जमीन तैयार करते रहे। मौलाना आजाद और खान अब्दुल गफ्फार खान विभाजन के सबसे बड़े विरोधी थे। उनके अलावा इमारत-ए-शरिया के मौलाना सज्जाद, मौलाना हाफिज-उर-रहमान, तुफैल अहमद मंगलौरी जैसे कई नेताओं ने मुस्लिम लीग की विभाजनकारी राजनीति का विरोध किया था। देवबंद स्थित इस्लामिक बुद्धिजीवियों का बहुमत और जमाते-उलेमा-ए हिन्द भी विभाजन के खिलाफ था।

विभाजन पर सावरकर और जिन्ना एक साथ

कट्टरपंथियों ने माहौल इतना बिगाड़ दिया था कि ''सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा'' गीत के रचयिता मोहमद इकबाल भी 1930 तक मुसलमानों के लिए अलग देश की मांग करने लगे। सबसे पहले 1933 में आयोजित तीसरे गोलमेज सम्मेलन में रहमत अली ने मुस्लिमों के लिए अलग देश का जिक्र किया था। इधर सन् 1933 में ही अहमदाबाद में आयोजित हिन्दू महासभा के सम्मेलन में विनायक दामोदर सावरकर ने हिन्दू और मुस्लिम दो अलग राष्ट्रों की मांग उठाई थी। सन् 1945 में सावरकर ने पुनः कहा कि दो राष्ट्रों के मुद्दे पर उनका जिन्ना के साथ कोई मतभेद नहीं है। यद्यपि एम.एस. गोलवरकर ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक ''बंच आफ थॉट्स'' 1966 में लिखी मगर हिन्दू राष्ट्र के बारे में उनकी भावना सावरकर जैसी ही थी।

सेना के जनरलों ने भी चाहा भारत को तोड़ना

प्रो. इश्तियाक कहते हैं कि बर्तानियां का इरादा हिन्दुस्तान को 1947 तक काबू में रखने का था, लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध में हिटलर की हार के साथ ही ब्रिटेन को भी भारी नुकसान उठाना पड़ा। उस समय अमेरिका पश्चिमी देशों में उगता सूरज जैसा था और राष्ट्रपति फ्रेंकलिन रूजवेल्ट भारत की आजादी के पक्ष में थे। लगभग 1946 तक ब्रिटेन चाहता था कि भारतीय-ब्रिटिश सेना अक्षुण्ण रहे, ताकि अंग्रेज उस सेना का जब चाहे इस्तेमाल कर सकें।

इसी दौरान सेना में मौंटगोमरी जैसे शीर्ष जनरलों ने विभाजन के लिए षडयंत्र के तहत मई 1947 में एक मेमोरेण्डम तैयार किया, जिसमें कहा गया कि देश का विभाजन हितकारी है, क्योंकि मिस्टर जिन्ना कॉमनवेल्थ में शामिल होने के इच्छुक हैं। हमें जिन्ना से मांग करनी चाहिए कि कराची बंदरगाह की सुविधा, सैन्य हवाई अड्डे और वहां की सेना ब्रिटेन को मिले।

नेहरू अंग्रेजों के काम नहीं आ सकते थे

इश्तियाक के अनुसार नेहरू का झुकाव कम्युनिस्ट सोवियत संघ की ओर था, इसलिए अंग्रेज उन पर भरोसा नहीं करते थे। ऐसे में हिन्दुस्तान का विभाजन उन्हें अपने लिए अनुकूल लगा। दूसरे विश्व युद्ध में सोवियत संघ के सहयोगी होने के बावजूद ब्रिटेन सदैव कम्युनिस्टों के खिलाफ था और वह कम्युनिस्ट ब्लॉक के आगे पाकिस्तान के रूप में बफर जोन चाहता था। उसको डर था कि रूस अरब सागर की ओर आयेगा। रूसी क्रांति के बाद पश्चिमी देशों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म का खतरा उत्पन्न हो गया। उन्होंने पाकिस्तान के जरिये ही अफगान जेहाद कराया। बाद में ब्रिटेन की जगह अमेरिका ने अफगान जेहाद के खिलाफ पाकिस्तान का इस्तेमाल किया।

अंग्रेजों का रेड कारपेट जिन्ना के लिए

इश्तियाक के अनुसार 1940 में मुस्लिम लीग का रिजोल्यूशन पास होने से ठीक एक दिन पहले 27 मार्च को जिन्ना ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था, ''अब तक अंग्रेज मेरी उपेक्षा करते रहे, मगर अब वे मेरे लिए रेड कारपेट बिछा रहे हैं, इसलिए अब हम अपनी मुस्लिम राष्ट्र की मांग रखेंगे।'' उसके बाद यह मांग मुस्लिम लीग के एजेण्डे के केन्द्र में आते ही अंग्रेजों ने मुस्लिम लीग को कांग्रेस के खिलाफ इस्तेमाल करना शुरू कर दिया। आजादी की लड़ाई में बिना कुछ किये ही मुस्लिम लीग को देश के रूप में तोहफा मिलने का मकसद समझा जा सकता है।

पंजाब बंटा, लोग मूली गाजर जैसे कटे

दरअसल असली विभाजन तो पंजाब का हुआ था, जहां सर्वाधिक मारकाट हुई थी और 5 लाख की नफरी वाली सेना बेकार खड़ी रही। स्पनर के अनुसार अगर पंजाब में सही पुलिसिंग होती तो इतना बड़ा नरसंहार रोका जा सकता था। लाहौर रावलपिण्डी जैसे क्षेत्रों में समय से सेना नहीं भेजी गयी। वहां अगर स्थानीय सैनिकों के बजाय ब्रिटिश और गोरखा सैनिक भेजे जाते तो हालात जल्दी काबू में आ जाते। इश्तियाक अपनी पुस्तक ''पंजाब ब्लडीड'' में कहते हैं कि अंग्रेज भी खूनखराबा चाहते थे ताकि लगभग 13 सौ सालों तक साथ रहने वाले हिन्दू मुसलमान एक साथ न रह सकें. पिण्डी शहर के नजदीक ही दंगा पीड़ित गांव थे, जहां 6 मार्च से दंगे शुरू हो गये थे लेकिन 13 मार्च को वहां सेना भेजी गयी, जिसमें डोगरे अधिक थे। ❑

स्वाधीनता आंदोलन से अलग थे आरएसएस और हिन्दू महासभा

❑ अनिल जैन

जिस तरह भारत-विभाजन की ऐतिहासिक विभीषिका इतिहास में अमिट है और इसे कोई झुठला नहीं सकता, उसी तरह इस हकीकत को भी कोई नहीं नकार सकता है कि मौजूदा सत्ताधीशों के पुरखों का भारत के स्वाधीनता संग्राम से कोई सरोकार नहीं था। यही नहीं, धर्म पर आधारित दो राष्ट्र हिंदू और मुसलमान का विचार भी सबसे पहले उन्होंने ही पेश किया था, जिसे बाद में मुस्लिम लीग ने भी अपनाया और उसी के आधार पर उसने पाकिस्तान हासिल किया।

भारत के मौजूदा सत्ताधीशों और उनके राजनीतिक संगठन (भारतीय जनता पार्टी) की गर्भनाल राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) और हिंदू महासभा से जुड़ी हुई है। इन दोनों ही संगठनों ने स्वाधीनता संग्राम से न सिर्फ खुद को अलग रखा था, बल्कि स्पष्ट तौर पर उसका विरोध भी किया था। यही नहीं, 1942 के 'भारत छोड़ो आंदोलन' के रूप में जब भारत का स्वाधीनता संग्राम अपने तीव्रतम और निर्णायक दौर में था, उस दौरान उस आंदोलन का विरोध करते हुए आरएसएस और हिंदू महासभा के नेता पूरी तरह ब्रिटिश हुकूमत की तरफदारी कर रहे थे।

नफरत फैलाने का काम

पाकिस्तान के स्वप्नद्रष्टा और संस्थापक मुहम्मद अली जिन्ना ने तो बहुत बाद में अपने आपको स्वाधीनता आंदोलन से अलग कर पाकिस्तान का राग अलापना शुरू किया था, लेकिन आरएसएस और हिंदू महासभा का तो शुरू से ही मानना था कि हिंदू और मुसलमान दोनों अलग-अलग राष्ट्र हैं और दोनों कभी एक साथ रह ही नहीं सकते। जिस तरह मुस्लिम लीग देश के मुसलमानों में हिंदुओं के प्रति नफरत फैलाने के काम में सक्रिय थी, उसी तरह आरएसएस हिंदुओं के मन में मुसलमानों के प्रति नफरत फैलाने में जुटा हुआ था। यानी दोनों ही किस्म की सांप्रदायिक ताकतें अंग्रेज हुकूमत के एजेंडा पर काम कर रही थीं।

आजादी की लड़ाई से दूर

वैसे स्वाधीनता आंदोलन से अपनी दूरी और मुसलमानों के प्रति अपने नफरत भरे अभियान को आरएसएस ने कभी छुपाया भी नहीं। आरएसएस के संस्थापक पहले सर संघचालक (1925-1940) केशव बलिराम हेडगेवार ने सचेत तरीक़े से आरएसएस को ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ़ आज़ादी की लड़ाई से अलग रखा। इसके अलावा उन्होंने बड़ी ईमानदारी के साथ ऐसी किसी राजनीतिक गतिविधि से भी आरएसएस को अलग रखा, जिसके तहत उसे ब्रिटिश हुकूमत के विरोधियों के साथ नत्थी किया जा सके। हेडगेवार की आधिकारिक जीवनी में स्वीकार किया गया है—'संघ की स्थापना के बाद डॉक्टर साहब अपने भाषणों में हिन्दू संगठन के बारे में ही बोला करते थे। सरकार पर टीका-टिप्पणी नहीं के बराबर रहा करती थी।'

महात्मा गांधी के नेतृत्व में देश के सभी समुदायों की एकताबद्ध लड़ाई की कांग्रेस की अपील को ठुकराते हुए हेडगेवार ने कहा था—'हिंदू संस्कृति हिंदुस्तान की जिंदगी की सांस है। इसलिए स्पष्ट है कि अगर हिंदुस्तान की रक्षा करनी है तो हमें सबसे पहले हिंदू संस्कृति का पोषण करना होगा।'

आरएसएस को खतरे से बचना है

हेडगेवार ने गांधी जी के नमक सत्याग्रह की भी निंदा करते हुए कहा - 'आज जेल जाने को देशभक्ति का लक्षण माना जा रहा है। जब तक इस तरह की क्षणभंगुर भावनाओं के बदले समर्पण के सकारात्मक और स्थाई भाव के साथ अविराम प्रयत्न नहीं होते, तब तक राष्ट्र की मुक्ति असंभव है।'' कांग्रेस के नमक सत्याग्रह और ब्रिटिश सरकार के बढ़ते हुए दमन के संदर्भ में उन्होंने आरएसएस कार्यकर्ताओं को निर्देश दिया था, 'इस वर्तमान आंदोलन के कारण किसी भी सूरत में आरएसएस को ख़तरे में नहीं डालना है।''

1940 में हेडगेवार की मृत्यु के बाद आरएसएस के प्रमुख भाष्यकार और दूसरे सरसंघचालक माधव सदाशिव गोलवलकर ने भी स्वाधीनता आंदोलन के प्रति अपनी नफरत को नहीं छुपाया। वे अंग्रेज शासकों के विरुद्ध किसी भी आंदोलन अथवा कार्यक्रम को कितना नापसन्द करते थे, इसका अंदाज़ा उनके इन शब्दों से लगाया जा सकता है—'नित्यकर्म में सदैव संलग्न रहने के विचार की आवश्यकता का और भी एक कारण है। समय-समय पर देश में उत्पन्न परिस्थिति के कारण मन में बहुत उथल-पुथल होती ही रहती है। 1942 में ऐसी उथल-पुथल हुई थी। उसके पहले 1930-31 मे भी आंदोलन हुआ था। उस समय कई लोग डॉक्टर हेडगेवार के पास गए थे। इस 'शिष्टमंडल' ने डॉक्टर जी से अनुरोध किया कि इस आंदोलन से देश को आज़ादी मिल जाएगी और इसलिए संघ को पीछे नहीं रहना चाहिए।

उस समय एक सज्जन ने जब डॉक्टर जी से कहा कि वह जेल जाने के लिए तैयार हैं, तो डॉक्टर जी ने कहा-'ज़रूर जाओ। लेकिन पीछे आपके परिवार को कौन चलाएगा?' उस सज्जन ने बताया, 'दो साल तक केवल परिवार चलाने के लिए ही नहीं, आवश्यकतानुसार जुर्माना भरने की भी पर्याप्त व्यवस्था उन्होंने कर रखी है।' तो डॉक्टर जी ने कहा - 'आपने पूरी व्यवस्था कर रखी है तो अब दो साल के लिए संघ का ही कार्य करने के लिए निकलो।' घर जाने के बाद वे सज्जन न जेल गए, न संघ का कार्य करने के लिए बाहर निकले।''

भारत छोड़ो आंदोलन और आरएसएस की सोच

गोलवलकर द्वारा प्रस्तुत इस ब्यौरे से यह बात साफतौर पर सामने आ जाती है कि आरएसएस का मकसद स्वाधीनता संग्राम के प्रति आम लोगों को निराश व निरुत्साहित करना था। ख़ासतौर से उन देशभक्तों को, जो अंग्रेजी शासन के खिलाफ़ कुछ करने की इच्छा लेकर घर से आते थे। वैसे 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के प्रति आरएसएस का हिकारत भरा रवैया गोलवलकर के इस वक्तव्य से भी जाना जा सकता है—'सन 1942 में भी अनेक

लोगों के मन में तीव्र आंदोलन था। उस समय भी संघ का नित्य कार्य चलता रहा। प्रत्यक्ष रूप से संघ ने कुछ न करने का संकल्प किया था। परन्तु संघ के स्वयंसेवकों के मन में उथल-पुथल चल ही रही थी। संघ अकर्मण्य लोगों की संस्था है, इनकी बातों का कुछ अर्थ नहीं, ऐसा केवल बाहर के लोगों ने ही नहीं, कई अपने स्वयंसेवकों ने भी कहा। वे बड़े रुष्ट भी हुए।''

इस तरह स्वयं गोलवलकर के बयान से यह तो पता चलता है कि आरएसएस ने भारत छोड़ो आंदोलन के पक्ष में प्रत्यक्ष रूप से किसी भी तरह की हिस्सेदारी नहीं की थी। लेकिन आरएसएस के किसी प्रकाशन या दस्तावेज़ या स्वयं गोलवलकर के किसी वक्तव्य से आज तक यह भी पता नहीं चलता है कि आरएसएस ने अप्रत्यक्ष रूप से भारत छोड़ो आंदोलन में किस तरह की हिस्सेदारी की थी। गोलवलकर का यह कहना कि भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान आरएसएस का 'रोज़मर्रा का काम' ज्यों का त्यों चलता रहा, बहुत अर्थपूर्ण है। यह रोज़मर्रा का काम क्या था? इसे समझना ज़रा भी मुश्किल नहीं है। यह काम था मुसलिम लीग के साथ कंधे से कंधा मिलाकर हिंदू और मुसलमान के बीच की खाई को गहराते जाना। इस 'महान' सेवा के लिए कृतज्ञ अंग्रेज़ शासकों ने उन्हें अपनी कृपा से नवाज़ा भी। यह गौरतलब है कि औपनिवेशिक शासन में आरएसएस और मुस्लिम लीग पर कभी भी प्रतिबंध नहीं लगाया गया।

सच तो यह है कि गोलवलकर ने स्वयं भी कभी यह दावा नहीं किया कि आरएसएस अंग्रेज़ विरोधी संगठन था। अंग्रेज शासकों के चले जाने के बहुत बाद में गोलवलकर ने 1960 में मध्य प्रदेश के इंदौर शहर में अपने एक भाषण में कहा - 'कई लोग पहले इस प्रेरणा से काम करते थे कि अंग्रेजों को निकाल कर देश को स्वतंत्र कराना है। अंग्रेजों के औपचारिक रूप से चले जाने के बाद यह प्रेरणा ढीली पड़ गयी। वास्तव में इतनी ही प्रेरणा रखने की आवश्यकता नहीं थी। हमें स्मरण रखना होगा कि हमने अपनी प्रतिज्ञा में धर्म और संस्कृति की रक्षा कर राष्ट्र की स्वतंत्रता का उल्लेख किया है। उसमें अंग्रेज़ों के जाने या न जाने का कोई उल्लेख नहीं है।'' ❑

स्वदेशी आंदोलन में महिलाएं थीं आगे

❑ डॉ. सरिता

महात्मा गांधी महिलाओं की शक्ति और उनके सामर्थ्य को अच्छी तरह समझते थे, उन्हें पता था कि स्वतंत्रता आंदोलन की संघर्ष यात्रा महिलाओं के बिना पूरी नहीं हो सकती है। 1920 में जब असहयोग आंदोलन शुरू हुआ तब जगह-जगह गांधी ने भाषण दिया था। उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद भी उनका आना हुआ। इलाहाबाद आने से पहले उन्होंने काशी में 27 नवंबर 1920 को हिंदू विश्वविद्यालय के उपकुलपति आनंद शंकर बापूभाई ध्रुव की अध्यक्षता में सार्वजनिक सभा की थी। 28 नवंबर 1920 को इलाहाबाद आकर मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक सार्वजनिक सभा करने के बाद अगले ही दिन 29 नवंबर को महिलाओं की एक सभा की। इस सभा में उन्होंने कहा कि आप अपने पतियों और पुत्रों से अनुरोध करें और उन्हें प्रोत्साहन दें कि वह अपने कर्तव्य के पथ पर चलें तथा स्वयं स्वदेशी को अपनाकर भारत के निर्माण में प्रभावकारी सहायता दें। रावण के राज्य में सीता को भी 14 साल तक वल्कल वसन पहन कर रहना पड़ा था। इसी तरह भारतीय महिलाओं को भी हाथ के बुने हुए खद्दर का कपड़ा पहनना अपना कर्तव्य बना लेना चाहिए।

रावण के राज्य में सीता को भी 14 साल तक वल्कल वसन पहन कर रहना पड़ा था। इसी तरह भारतीय महिलाओं को भी हाथ के बुने हुए खद्दर का कपड़ा पहनना अपना कर्तव्य बना लेना चाहिए।

स्वदेशी स्वराज्य प्राप्त करने का एक अमोघ उपाय है और उसके प्रचार का मुख्य भार भारतीय स्त्रियों पर ही है। महात्मा गांधी का भाषण सुनने के बाद महिलाओं में बहुत परिवर्तन आया। कई महिलाओं ने तो अपने आभूषण उतार कर राष्ट्रीय कार्य में दे दिया। स्वदेशी की शपथ लेने में भी महिलाओं ने काफी उत्साह दिखाया। महात्मा गांधी लोगों को समझाना चाहते थे कि केवल स्वदेशी के द्वारा ही स्वराज की प्राप्ति हो सकती हैं। गांधी ने जितना पुरुषों को चेताया उतना ही महिलाओं को भी जगाया।

1921 में 8 मई का दिन था। गांधीजी मोतीलाल नेहरू की बेटी सरूप नेहरू (विजय लक्ष्मी पंडित) के विवाह में शामिल हुए थे, साथ में कस्तूरबा गांधी भी थी। विवाह संपन्न हो जाने के बाद 10 मई को इलाहाबाद में जिला सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में कस्तूरबा गांधी के साथ ही अन्य महिलाएं भी शामिल थी। इसी वर्ष 9 अगस्त को कानपुर में महिलाओं की सभा को संबोधित करने के बाद गांधी जी 10 अगस्त की सुबह इलाहाबाद पहुंचे। सबसे पहले उन्होंने महिलाओं की सभा की। इस सभा में स्वदेशी पर भाषण दिया और विदेशी वस्तुओं का त्याग करके खादी पहनने और सभी महिलाओं से चरखा चलाने की अपील की। महात्मा गांधी के अहिंसक विचारधारा से प्रभावित होकर महिलाओं ने स्वतंत्रता आंदोलन में बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया।

महिलाओं को लेकर उस समय समाज में बहुत कुरीतियां थी, फिर भी घर की चारदीवारी से बाहर निकल कर महिलाओं ने नेतृत्व संभाला और स्वराज और स्वदेशी के लिए अपनी क्षमता के अनुसार सब कुछ न्योछावर कर दिया। महात्मा गांधी महिलाओं के अंदर व्याप्त करुणा, त्याग और तपस्या को अच्छी तरह से समझते थे। महिलाओं ने स्वतंत्रता आंदोलन में खुद के अस्तित्व को समझा और देश के लिए खुद को समर्पित भी कर दिया। गांधी के तर्कसंगत प्रभावशाली भाषण से महिलाएं इस कदर प्रभावित रहती थी कि गांधी के इलाहाबाद आने पर अधिकांश महिला कार्यकर्ता सब काम छोड़ कर सबसे पहले उनके भाषण को सुनकर उन्हें आत्मसात करती थी और स्वराज व स्वदेशी के लिए दुल्हन भी संघर्ष यात्रा में चल पड़ती थी। ❑

नाकामियां छिपाने के लिए अब बंटवारे पर चर्चा

❑ सुरेश खैरनार

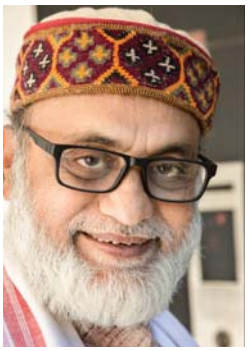

14 अगस्त को प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने अखंड भारत के विखंडित होने का दिवस मनाने की घोषणा की और 15 अगस्त को लाल किले से राष्ट्र के नाम संदेश में भी उन्होंने इसे दोहराया। मुझे आश्चर्य हुआ कि प्रधानमंत्री बनने के बाद अपने प्रथम पंद्रह अगस्त के संबोधन में 125 करोड़ की 'टीम इंडिया' की बात करने वाले प्रधानमंत्री अब सात साल बाद—'भारत के विखंडित होने का दिवस' मनाने की घोषणा कर रहे हैं! इसे मनाने से पहले उन्हें चाहिए कि वह डॉ. राममनोहर लोहिया की किताब 'भारत विभाजन के गुनहगार कौन?' पढ़ें, और जिस संघ के सत्रह साल की उम्र में वह स्वयंसेवक बने थे, उसकी और उसके जैसे हिंदुत्व की राजनीति करने वाले और मुसलमानों की राजनीति करने वाले दोनों तत्त्वों की भूमिका क्या रही, इस बारे में दोबारा सोचें।

आगे आने वाले पांच राज्यों के चुनाव और बाद में लोकसभा चुनाव को लेकर अब और कोई मुद्दा नहीं है। आम लोगों के लिए सात साल में आपने किया क्या है? इस सवाल से ध्यान हटाने के लिए इस तरह की सांप्रदायिक ध्रुवीकरण की राजनीति बार-बार कितनी काम आएगी?

क्योंकि किसी को भी एक बार बेवकूफ बनाया जा सकता है, बार-बार नहीं। मंदिर-मस्जिद की राजनीति करने वाले, दोबारा सत्ता में आने के बाद भारत के आम लोगों के जीवन को बेहतर बनाने के लिए कुछ भी न करने वाले, सिर्फ और सिर्फ कॉरपोरेट घरानों की तिजोरियां भरने के लिए भारत के सभी पुराने कानूनों को बदलने का काम कर रहे हैं। संसद के मानसून सत्र के दौरान विरोधियों की अनुपस्थिति का फायदा उठाकर इक्कीस दिन में बीस संशोधन बिल पास करवा लिए और ऊपर से आरोप लगाते रहे कि विरोधी दल संसदीय लोकतंत्र का अपमान कर रहा है।

आज से नब्बे साल पहले जर्मनी में संसद का इस्तेमाल इसी तरह करने के उदाहरण याद आ रहे हैं। संसद में विरोधी दलों के लिए किसी भी तरह का स्थान नहीं दिखायी देता है। 'बनाना रिपब्लिक' की तरह सिर्फ अपनी मनमर्जी से इसे चलाने के लिए, मार्शलों का इस्तेमाल करना कौन-सी लोकतांत्रिक पद्धति है? देश के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र कृषि और पेगासस जासूसी जैसे गंभीर मुद्दों पर बहस करने की

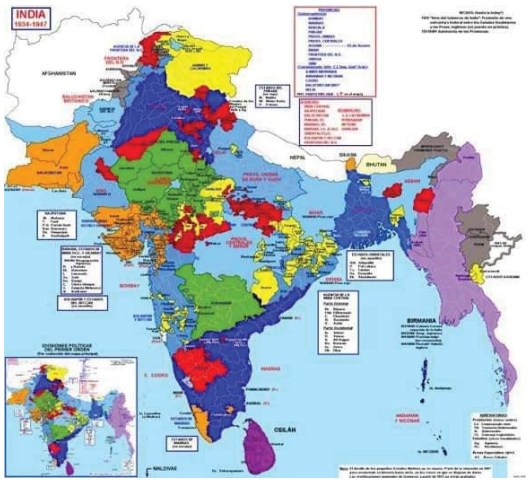

आजादी के समय भारत का राजनीतिक नक्शा

मांग कौन-सी गलत मांग थी?

भारत विभाजन जैसी पचहत्तर साल पुरानी बात आज अचानक याद कैसे आयी? और आयी है तो धर्म के आधार पर भारत के बंटवारे की मांग करने वाले लोगों में आपका अपना संघ परिवार भी शामिल था। सावरकर-गोलवलकर की हिंदुत्ववादी विचारधारा और मुस्लिम लीग की अलग राष्ट्र की मांग का एक ही कारण है! धर्म के नाम पर राजनीति करने वाले पाकिस्तान के पच्चीस साल के भीतर दो टुकड़े हो गए थे। इधर सिंध, बलूचिस्तान, स्वात, फेडरल एडमिनिस्ट्रेट ट्रायबल एरिया के लोगों द्वारा लगातार अपनी स्वतंत्रता के लिए लड़ाई लड़ी जा रही है।

भारत में हिंदुत्व के नाम पर राजनीति करने का नतीजा हिंदू तालिबानी मानसिकता के रूप में हमारे सामने है। इसीलिए अभिनव भारत, सनातन संस्था, बजरंग दल और हिंदू वाहिनी जैसे संगठनों को प्रश्रय देने वालों और मुसलमानों की तालिबान जैसी बर्बरतापूर्ण राजनीति करने वाले लोगों के बीच क्या फर्क है?

अगर भारत के विखंडित होने का इतना ही गम है तो यह भी जान लें कि भारत के बंटवारे में धर्म के नाम पर राजनीति करना ही मुख्य कारण रहा है! इतिहास की जुगाली करने से नहीं चलेगा, अतीत में की गयी गलतियाँ नहीं दोहराना ही सही उपाय है। अन्यथा आज बंटवारे के समय से ज्यादा मुसलमान भारत में रह रहे हैं और लगातार दंगा, माब लिंचिग, लव-जेहाद, गोहत्या, धर्म-परिवर्तन जैसी भावनाओं को भड़काने वाले मुद्दों को हवा देकर इतनी बड़ी आबादी को असुरक्षित मानसिकता में डालने का मतलब उसे एक और बंटवारे की तरफ उकसाना है। कोई भी इन्सान बहुत लंबे समय तक जिल्लत भरी, अपमानित जिंदगी जी नहीं सकता है। इसलिए अगर देर से ही सही, आपको बंटवारे की याद आयी है तो भारत के बंटवारे के असली गुनाहगार कौन हैं, यह जानने के लिए डॉ. राममनोहर लोहिया की दो किताबें- 'भारत विभाजन के गुनाहगार' और 'हिंदू बनाम हिंदू' जरूर पढ़िए। भारत के बंटवारे के पीछे धर्म के नाम पर राजनीति करना मूल कारण है, इसे समझने के लिए यह किताब पढ़ना जरूरी है।

हिंदू धर्म के 85 फीसदी से भी अधिक लोगों में पिछड़ी जातियों का शुमार होने के बावजूद उनकी प्रगति के लिए क्या हो रहा है?

सभी सभ्य देश अपने देश के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और अन्य कारणों से पिछड़े वर्ग के लोगों को अफर्मेटिव ऐक्शन के तहत अपना नैतिक और संवैधानिक कर्तव्य समझते हुए रिजर्वेशन देते हैं। हम तो हजारों सालों की ऊंच-नीच की परंपरा वाले देश हैं, कितना बड़ा बैकलॉग है? जिसे भरने के लिए आजादी के पचहत्तर साल बाद भी भारत की पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण का प्रावधान करते हुए कंजूसी बरत रहे हैं। 85 फीसदी लोगों को सिर्फ 50 फीसदी में निपटा रहे हैं। जब अन्य संशोधन कर सकते हैं तो रिजर्वेशन का प्रावधान पचास प्रतिशत से ज्यादा क्यों नहीं करते हैं? यह आनुपातिक तौर पर भारत की आबादी के विपरीत निर्णय है, और इसे ठीक करने के बजाय राज्यों के मत्थे मढ़ दिया जाता है। भारत में हजारों सालों की ऊंच-नीच और अस्पृश्यता जैसी घृणास्पद प्रथाओं के कारण यहां की पच्चासी प्रतिशत जनसंख्या को कभी भी बराबरी का दर्जा नहीं मिला। संसद में पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण का प्रावधान करते हुए उसी पचास प्रतिशत में सबको घुसाकर लोगों को आपस में ही लड़वाना कौन-से सामाजिक न्याय के दायरे में आता है?

वैसे भी गत सात सालों से सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम एक-एक करके निजी क्षेत्र के हाथों बेचकर सरकारी नौकरी की उपलब्धता कम की जा रही है। तो भारत सरकार या राज्य सरकारों की नौकरी देने की क्षमता क्या रह जाती है? यूं भी सरकार की नौकरी देने की ऐसे में क्षमता दो प्रतिशत से अधिक नहीं है। कार्पोरेट्स में भी रिजर्वेशन का प्रावधान करना चाहिए। लेकिन कार्पोरेट्स को फायदा पहुंचाने के अलावा एक भी निर्णय आम लोगों के हित में न लेते हुए सरकार उन्हें भावनात्मक रूप से मंदिर-मस्जिद, गोहत्या, लव-जेहाद, धर्म परिवर्तन जैसे भावनाओं को भड़काने वाले मुद्दों में उलझाकर रखना चाहती है।

पचहत्तर साल पहले देश विभाजन के कारणों को देखिए, फिर विभाजन के नाम पर राजनीति करने का अगला कदम उठाइए। अन्यथा यह मुद्दा परस्पर पूरक होने के कारण, आप के दल और मातृसंगठन को सदियों का हिसाब देना पड़ेगा। ❑

राजनीति की उपज है आतंकवाद

❑ सत्य नारायण मदन

आज विश्व में जो मुस्लिम आतंकवाद है, उसके मूल में इस्लाम नहीं मुस्लिम शासक वर्ग का एक तबका और साम्राज्यवादी शक्तियां हैं। इस्लाम तो 1500 वर्षों से है, लेकिन आतंकवाद मॉडर्न फेनोमेना है। मूलतः राजनीति की उपज है और उसको जमीन भी राजनीतिक कारणों से ही मिलती है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति के तहत कई देशों की सरकारें भी प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से आतंकवाद का समर्थन करती हैं। इसके कारण जनाधार कमजोर होने के बावजूद वे ताकतवर हो जाते हैं। उन्हें इन सरकारों के पक्षधर मीडिया का भी समर्थन मिलता है। इस्लाम, पैगंबर साहब के इंतकाल के बाद तत्कालीन घटनाक्रमों के कारण संस्थागत धर्म में तब्दील हो गया। इसके अलावा इस्लाम में कई आंदोलन हुए और इस्लाम की कई व्याख्याएं हुईं। उनमें इस्लाम का एक वहाबी इन्टरप्रेटेशन है, जिससे आतंकवादी अपना खाद-पानी लेते है। ज्यादातर मुस्लिम देशों में अलोकतांत्रिक शासन है। वहां के संस्थागत इस्लाम के उलेमाओं का एक हिस्सा सरकार के समर्थन में इस्लाम की मनमानी व्याख्या भी करता रहता है। अगर वे देश आतंकवाद के किसी हिस्से का समर्थन कर रहे होते है, तो प्रकारांतर से उसका भी समर्थन इन उलेमाओं के द्वारा किया जाता है।

अंतरराष्ट्रीय साम्राज्यवादी राजनीति आतंकवाद की जड़ में है। यह अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मुस्लिम आईडेंटिटी की राजनीति है। इसमें मुस्लिम देशों के शासक वर्गों और साम्राज्यवादी ताकतों, दोनों का हित सधता है। आज राज्य की ताकत पहले से कई गुना बढ़ी हैं। इस ताकत को बढ़ाने में टेक्नोलॉजी की बड़ी भूमिका है। आतंकवादी भी इस टेक्नोलॉजी का इस्तेमाल कर रहे हैं। कुल मिलाकर आज राज्य अथवा राज्य समर्थित ताकतों के लिए जनसमर्थन का भ्रम पैदा करना पहले की तुलना में ज्यादा आसान है।

अमेरिका ने अफगानिस्तान में तालिबानियों को पाकिस्तानी बेस का इस्तेमाल कर रूस के खिलाफ खड़ा किया था। आज भी तालिबानियों को पाकिस्तान का समर्थन प्राप्त है। पाकिस्तान की अंतराष्ट्रीय राजनीतिक भूगोल में स्ट्रेटेजिक पोजीशन है, अमेरिका उसे छोड़ नहीं सकता है। कुछ मुस्लिम देशों का भी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष समर्थन तालिबानियों को प्राप्त है। जहां तक बर्बर हिंसा का सवाल है, आदिकालीन जन्मजात चेतना के संदर्भ से उपजी हिंसा बर्बर होती है, इसे साम्प्रदायिक, संकीर्ण व आधुनिक व साम्राज्यवादी ताकतें अपने हितों के लिए बार-बार संगठित करती हैं।

आधुनिक राज्य चाहे लोकतान्त्रिक हो या अलोकतांत्रिक, अपने हित में हिंसा को बढ़ावा देता है। उसका समर्थन सफेदपोश भी अलग-अलग कारणों से करते हैं। तालिबानियों को अफगानिस्तान की जनता का समर्थन नहीं है, इसमें कोई संदेह नहीं है। लेकिन वे वहां की जनता पर उक्त कारणों से हावी हो गये हैं। ❑

श्रद्धांजलि

'सर्वोदय बुक स्टाल', प्रयागराज जंक्शन (उत्तर मध्य रेलवे) के व्यवस्थापक रामबहोरी पाल की पूज्य माता महादेवी जी का 85 वर्ष की अवस्था में 9 अगस्त 2021 को निधन हो गया। माता जी एक दिन अचानक गिर गयी थीं, जिससे उनके दाहिने कूल्हे पर चोट आ गयी थी।

सर्वोदय जगत परिवार उनकी आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना करता है और अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि देता है।

जेपी और अन्ना आंदोलन की तरह क्या किसान आंदोलन में सत्ता बदलने की ताकत है?

❑ डॉ. सुनीलम

देश के 19 विपक्षी दलों द्वारा आगामी 20 सितंबर से 30 सितंबर के बीच किसान आंदोलन के समर्थन में विरोध प्रदर्शन का ऐलान किया गया है तथा कांग्रेस ने सभी विपक्षी दलों से 2024 का चुनाव मिलकर लड़ने की अपील की है। संसद सत्र के दौरान भी संपूर्ण विपक्ष किसान आंदोलन के समर्थन में खड़ा दिखलायी पड़ा। क्या इस एकता से 2022 में उत्तर प्रदेश तथा 2024 में केंद्र सरकार बदली जा सकेगी? इसी का जवाब तलाशता हुआ प्रस्तुत है डॉ. सुनीलम का यह आलेख। **-सं.**

संयुक्त किसान मोर्चा द्वारा लगभग 9 महीने से चलाए जा रहे किसान आंदोलन को दुनिया का सबसे लंबा एवं प्रभावशाली आंदोलन बताया जा रहा है। दुनिया के बड़े दार्शनिक नाम नोआम चोम्स्की ने इसे दुनिया के आंदोलनों के लिए मॉडल आंदोलन बताया है, जिससे दुनिया के आंदोलनों को सीख लेनी चाहिए।

यह सच है कि संयुक्त किसान मोर्चा के नेतृत्व में चल रहा किसान आंदोलन, आजादी मिलने के बाद राष्ट्रीय स्तर पर चलने वाला सबसे बड़ा आंदोलन है। कई बार इस आंदोलन की तुलना जेपी आंदोलन और अन्ना आंदोलन से की जाती है। लेकिन दोनों आंदोलनों और किसान आंदोलन में सबसे बड़ा अंतर यह है कि वे दोनों ही आंदोलन जेपी और अन्ना हज़ारे के इर्दगिर्द खड़े हुए थे। किसान आंदोलन का कोई एक नेता नहीं है। सामूहिक नेतृत्व में आंदोलन 9 महीने से चलाया जा रहा है। दोनों ही आंदोलनों के दौरान लाखों आंदोलनकारी 9 महीने तक देश की राजधानी दिल्ली को घेरे नहीं बैठे थे, न ही आंदोलन के दौरान 600 से अधिक शहादतें हुई थीं। दोनों ही आंदोलनों में किसी भी राज्य में ऐसी स्थिति नहीं बनी थी कि पक्ष-विपक्ष दोनों आंदोलन के समर्थन में खड़े होने की होड़ करते दिखे हों, जैसा कि पंजाब में दिखलायी पड़ते हैं।

दोनों ही आंदोलनों में 550 विभिन्न विचारधाराओं और मजबूत आधार वाले संगठन सामूहिक रूप से खड़े नहीं थे। अन्ना आंदोलन के दौरान तो सरकार द्वारा कोई बड़ी दमनात्मक कार्यवाही भी नहीं की गयी थी। वहीं जेपी आंदोलन के दौरान विपक्ष के लाखों नेताओं और कार्यकर्ताओं को 19 महीने जेल में डाल दिया गया था।

संयुक्त किसान मोर्चा के नेतृत्व में चल रहे किसान आंदोलन पर पंजाब में जहां आंदोलन का सबसे अधिक जोर है, वहीं आज तक कोई बड़ी दमनात्मक कार्यवाही नहीं हुई है। हरियाणा की भाजपा सरकार ने जरूर तमाम जिलों में दमनात्मक कार्यवाही की है, 50 हज़ार किसानों पर फर्जी मुकदमे भी दर्ज किए हैं, लेकिन दिल्ली में बॉर्डरों पर जहां किसानों का अनिश्चितकालीन धरना चल रहा है, वहां कोई बड़ी दमनात्मक कार्यवाही करने की हिम्मत सरकार की नहीं पड़ी है। इसी तरह से उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान में भी कोई बड़ी दमनात्मक कार्यवाही देखी नहीं गयी है।

जेपी आंदोलन और अन्ना आंदोलन का विपक्ष समर्थन कर रहा था लेकिन कुछ अपवादों को छोड़कर सभी वामपंथी पार्टियां दोनों आंदोलनों के साथ खड़ी नहीं थीं, जो आज संयुक्त किसान मोर्चा के साथ पूरी शिद्दत से खड़ी दिखलायी पड़ रही हैं। संयुक्त किसान मोर्चा बार-बार जनता के बीच अपनी ताकत दिखलाता रहा है। संयुक्त किसान मोर्चा ने बार-बार दिल्ली के बॉर्डरों पर तथा विभिन्न राज्यों में किसान महापंचायतें कर अपनी जन शक्ति का प्रदर्शन किया है। दोनों ही आंदोलनों की तरह किसान आंदोलन को भी बदनाम करने, बांटने, विदेशी फंडिंग से संचालित होने तथा विपक्ष के इशारे पर आंदोलन चलाए जाने के आरोप लगाए जाते रहे हैं।

जेपी आंदोलन के बाद देश में पहली गैर कांग्रेसी सरकार बनी थी, तमाम विपक्षी दल एक हुए थे। जनता पार्टी का गठन हुआ था। अन्ना आंदोलन के बाद भी भ्रष्टाचार के मुद्दे पर कांग्रेस की केंद्र सरकार बदल गयी। अन्ना आंदोलन खत्म होने के बाद दिल्ली में भी आम आदमी पार्टी की सरकार बन गयी।

इसलिए तमाम राजनैतिक विश्लेषक अन्ना आंदोलन पर मोदी को देश पर थोपने और कांग्रेस को खत्म करने का आरोप भी लगाते हैं। यह भी कहा जाता है कि यह संघ समर्थित आंदोलन था, लेकिन यह आरोप वर्तमान किसान आंदोलन पर नहीं लगाया जा सकता। हालांकि आरएसएस के किसान संघ द्वारा 8 सितंबर से एमएसपी को लेकर आंदोलन की घोषणा करके किसानों को भ्रमित करने की साजिश रची जा रही है। जेपी आंदोलन को रेलवे की हड़ताल से बहुत बड़ी ताकत मिली थी। आज फिर देश का मज़दूर आंदोलन संयुक्त किसान मोर्चा के साथ खड़ा दिखलायी पड़ रहा है। संयुक्त किसान मोर्चा भी निजीकरण तथा लेबर कोड के खिलाफ मजदूर संगठनों के संघर्ष में जमीनी स्तर पर समर्थन में खड़ा दिख रहा है।

संयुक्त किसान मोर्चे ने चुनाव में भी अपनी ताकत दिखायी है। बंगाल, तमिलनाडु तथा केरल में विधानसभा चुनाव जीतने के पहले भी देश में अखिल भारतीय किसान संघर्ष समन्वय समिति के नेतृत्व में संपूर्ण कर्जामुक्ति और लाभकारी मूल्य की गारंटी को लेकर जो आंदोलन चल रहा था, उसके चलते मध्यप्रदेश, राजस्थान, छत्तीसगढ़ में भाजपा की सरकार चली गयी थी। पंजाब और उत्तर प्रदेश के स्थानीय निकाय के चुनाव में भी जनता ने भाजपा का सफाया करके दिखाया है।

संयुक्त किसान मोर्चा ने अब उत्तर प्रदेश तथा उत्तराखंड मिशन की घोषणा की है। उत्तर प्रदेश में स्थानीय निकाय के चुनाव में पहले जो नतीजे आए थे, उनसे यह साफ हो गया था कि उत्तर प्रदेश बदलाव की दिशा में आगे बढ़ रहा है। हालांकि बाद में धनबल, सरकारी मशीनरी

और गुंडई का सहारा लेकर भाजपा ने अधिकतर स्थानीय निकायों पर कब्जा जमा लिया, लेकिन यह कहा जा सकता है कि स्थानीय निकायों के चुनाव ने योगी-मोदी की जोड़ी की चूलें हिला दीं।

संयुक्त किसान मोर्चा ने किसान संसद कर किसान विरोधी कानूनों के संबंध में अपने पक्ष को मजबूती से रखा है। जनता का व्हिप जारी करके संयुक्त किसान मोर्चा ने विपक्ष के सांसदों से जो अपील की थी, उसका असर भी संसद की कार्यवाही के दौरान देखने को मिला। संपूर्ण विपक्ष ने किसान संसद की कार्यवाही देखकर किसान संसद की गरिमा को बढ़ाया तथा सदन के अंदर और बाहर किसान आंदोलन की सभी मांगों का समर्थन भी किया है। कांग्रेस ने 20 अगस्त को 19 विपक्षी दलों की बैठक कर संयुक्त किसान मोर्चा के समर्थन में 20 सितंबर से 30 सितंबर के बीच पूरे देश में विरोध प्रदर्शन करने का ऐलान किया है। कांग्रेस ने विपक्षी दलों से एकजुट होकर 2024 का चुनाव लड़ने की अपील की है। क्या संपूर्ण विपक्ष 2024 का चुनाव एकजुट होकर लड़ पाएगा? जेपी आंदोलन और अन्ना आंदोलन के बाद जिस तरह से केंद्रीय सरकार बदली थी, वैसे ही क्या 2024 में सरकार बदल पाएगी? यह कहना तो जल्दबाजी होगी, लेकिन यह कहा जा सकता है कि उत्तर प्रदेश में यदि विपक्ष एकजुट होकर चुनाव लड़ा तो उत्तर प्रदेश में योगी सरकार को बदल सकेगा तथा मोदी सरकार को बदलने का रास्ता साफ हो जाएगा।

जेपी आंदोलन के बाद देश की जनता ने तानाशाही खत्म कर लोकतंत्र की बहाली के लिए वोट दिया था, उसी तरह अन्ना आंदोलन के बाद भ्रष्टाचार से मुक्ति के लिए आम मतदाताओं ने वोट दिया। क्या देश के मतदाता किसानों और मजदूरों को उनका जायज हक दिलाने तथा कारपोरेट राज से मुक्ति के लिए वोट देंगे? यह यक्ष प्रश्न है, इसका जवाब आज देना जल्दबाजी होगी परन्तु बंगाल के अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि यह संभव है। ❑

(डॉ. सुनीलम पूर्व विधायक हैं और संयुक्त किसान मोर्चा की कार्यकारिणी के सदस्य हैं।)

फिल्म

अंधेरे में धकेले गए लोग जिनका दिन में घर से बाहर निकलना मना है

❑ अपर्णा

तमिल भाषा में बनी लीना मनीमेकलाई की फिल्म 'मदाथी : द अनफेयरी टेल' को देखकर यह यकीन करना मुश्किल है कि भारत में एक मानव-जाति ऐसी भी है, जिसे दिन में घर से बाहर निकलना मना है। यह फिल्म इसी जाति की एक युवा होती लड़की योसाना पर केन्द्रित है जो गुलामी और न पहचाने जाने के अँधेरे से आजादी के उजाले में जाने की कोशिश और इच्छा करती है। उसकी इस इच्छा का दुष्परिणाम यह हुआ कि सामंतवादी और ब्राह्मणवादी सोच ने उसे कुचल दिया।

इस जाति को गाँव के लोगों के सामने जाने की इजाज़त नहीं है। इनके श्रम से सबके कपड़े साफ होते हैं लेकिन सरेआम इनका दिखना एक अपराध है। रात के अँधेरे में जब सारा गाँव खाकर सो जाता है और किसी के सामने पड़ने का अंदेशा नहीं रह जाता, उस समय ही इस जाति के लोग अपने घरों से बाहर निकलते हैं

यह फिल्म योसाना की कहानी के साथ-साथ उस जाति के लोगों की जिंदगी से रूबरू कराती है, जिसे नरक कहा जाना सौ प्रतिशत सही होगा। हम छुआछूत, ऊँच-नीच के माध्यम से अपमानित किये जाने की घटना आये दिन सुनते, देखते और पढ़ते रहते हैं, लेकिन इसी धरती पर अछूत जाति के लोग भी हैं, यह हमारी सोच से बाहर की बात है।

इस फिल्म में बलात्कार के दो दृश्य हैं। एक में योसाना की माँ से गाँव का दबंग बलात्कार करता है और धमकाते हुए चिल्लाकर कहता है कि तेरा पति मेरा कुछ नहीं कर सकता। मैं उसे मार डालूँगा। दूसरी बार बलात्कार योसाना का होता है और वह मर जाती है। इससे पता चलता है कि स्त्री के विरुद्ध अपराध करना और बेदाग बच जाना उस समाज के लिए कितना सहज है। यहाँ भारतीय संविधान में मनुष्य को मिला, 'जीने का मौलिक अधिकार' और कानून-व्यवस्था-न्याय सब कागज़ पर लिखी इबारतें रह जाती हैं।

यह फिल्म वास्तव में तमिलनाडु की पुथिरै वन्नार जाति की कहानी पर आधारित है जो धोबी का काम करती है। इस जाति को गाँव के लोगों के सामने जाने की इजाज़त नहीं है। इनके श्रम से सबके कपड़े साफ होते हैं लेकिन सरेआम इनका दिखना एक अपराध है। रात के अँधेरे में जब सारा गाँव खाकर सो जाता है और किसी के सामने पड़ने का अंदेशा नहीं रह जाता, उस समय ही इस जाति के लोग अपने घरों से बाहर निकलते हैं और जल्दी ही अपने सभी काम निपटा कर जंगल में ओझल हो जाते हैं।

'मदाथी : अ अनफेयरी टेल' धोबी जाति के एक ऐसे परिवार की कहानी है, जो गाँव से बाहर रहने के साथ अछूत भी है। वह गाँव के नियमों के अनुसार बाहर ही अपना सारा जीवन गुजारने को अभिशप्त है और गाँव में किसी दूसरे समाज के बीच कभी नहीं जा सकता। वह रात में ही कपड़े धोने का अपना सारा काम निपटा लेता हैं। फिल्म के कई दृश्यों में चाँदनी रात में योसाना की माँ कपड़े धोती हुई दिखती है।

फिल्म के शुरुआती दृश्य में ही मुँह-अँधेरे योसाना अपनी माँ के साथ घर लौट रही है। सिर पर कपड़ों का गट्ठर लिए उसकी मां घर वापसी के लिए हड़बड़ाती है और मस्ती में रास्ता नापती योसाना पर नाराज़ होती है ताकि उन दोनों को कोई देख न ले। इसी बीच रास्ते में किसी के आने की आहट सुनकर वे दोनों

गठरी उतारकर पेड़ के पीछे छिप जाती है। वह गाँव का ही एक आदमी होता है, जिसके 'कौन है?' पूछने पर योसाना की मां 'मालिक' संबोधन से जवाब देती है। इस पर वह उसको अपशब्द बोलकर अपमानित करता है।

ध्यान देने वाली बात यह है कि वह आदमी भी अपनी साइकिल पर लकड़ी का गट्ठर बाँधे हुए जा रहा है यानी वह भी एक मजदूर से ज्यादा की हैसियत वाला नहीं दिख रहा है, लेकिन फिर भी मालिक है। इससे पता चलता है कि वहाँ के ग्रामीण जाति-पदानुक्रम में पुथिरै वन्नार जाति सबसे निचले पायदान पर है। जाति-व्यवस्था की स्वाभाविक विशेषताओं के चलते सबसे निचले सोपान पर रहने वाली जाति अपने से ऊपर की सभी जातियों द्वारा उत्पीड़ित होती है। इसी कारण इलाके का मजदूर भी छोटी जाति के लोगों को अपमानित करने से नहीं चूकता, भले अपने मालिक से खुद लात-गाली खाए।

इस उत्पीड़क व्यवस्था के बरक्स योसाना की ज़िंदगी की खूबसूरती, अल्हड़पन और निर्दोषिता उसे एक इंसान के रूप में विकसित कर रही है। फिल्म के उसी दृश्य की अगली कड़ी में योसाना अपनी माँ को पेड़ के पीछे छिपी छोड़कर सिर पर गट्ठर उठाती हुई, निर्भीक घर की ओर जाती दिखती है। उसे समाज और उसकी मान्यताओं की न तो कोई परवाह है, न भय है।

योसाना किशोरावस्था में प्रवेश कर रही है। उसके सामने जंगली पक्षियों और फूलों की एक खूबसूरत दुनिया है। वह बेलौस जीना चाहती है। अभी-अभी उसके भीतर विपरीत लिंगी आकर्षण पैदा होना शुरू हुआ है। वह दिन के उजाले में हर जगह जाना चाहती है, लेकिन अपने निर्भीक स्वभाव के बावजूद अपने समाज पर थोपी हुई मान्यताओं के कारण दिन में हर जगह घूमने की वर्जना के चलते वह अपने आस-पास के संसार को छिपकर देखती है। नदी में नहाते ग्रामीण युवक को भी वह ऐसे ही देखती है।

वह मन ही मन उस युवक से प्रेम करती है। वह गाँव की किसी अछूत जाति का लड़का है। जब वह नदी में नहाने आता है तो योसाना उसे छिप छिपकर देखती है। लेकिन इस प्रेम की परिणति बहुत भयानक होती है। मदाथी देवी की स्थापना की रात वह युवक और उसके दोस्त शराब पीते हैं। इस दौरान उनमें से एक की नज़र योसाना पर पड़ जाती है। नशे में धुत्त सभी युवक उसके साथ बलात्कार करते हैं, जिनमें वह लड़का भी शामिल है। अंततः वह मर जाती है।

मदाथी : द अनफेयरीटेल के एक दृश्य में फिल्म की नायिका योसाना

इस प्रकार जातिवाद के अंधेरे में धकेल दी गयी एक लड़की को आज़ादी और प्रेम की चाह में अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है। यह एक ऐसे सामाजिक यथार्थ का फिल्मांकन है, जिसकी तरफ लोकतन्त्र की वकालत करने वाले लोगों का ध्यान नहीं जाता या वे उतना ही लोकतन्त्र पसंद करते हैं, जितने से उनको कोई परेशानी न हो।

यह देख-सुनकर मैं एकदम से सन्न रह गयी। पहले तो लगा कि शायद यह कहानी ही है, लेकिन गूगल में खोजने पर मिला कि तमिलनाडु में रहने वाली पुथिरै वन्नार जाति वास्तव में अछूत है, जिसे लोगों के सामने आने की सख्त मनाही है। विचित्र है कि इन्हें समाज के सामने नहीं आना है, छुपकर रहना है लेकिन काम ऊँची जाति के लोगों के कपड़े धोना है।

सवाल यह भी है कि जब ये इतने अशुद्ध और अछूत हैं तो फिर इनके द्वारा धोये कपड़े तथाकथित शुद्ध लोग कैसे पहन लेते हैं? सिर्फ पहनने-बिछाने के कपड़े ही नहीं, बल्कि ऊँची जाति की महिलाओं के माहवारी के कपड़े भी इन्हें ही धोना होता है। यह बहुत ही घृणित और वीभत्स प्रथा है, जहाँ लोग खुद की गंदगी भी साफ़ करने में घिनाते हैं, वहीं ये लोग दूसरों का नरक धो रहे हैं। महिलाएं अपनी माहवारी के कपड़े दूसरों से धुलवाती हैं।

मुझे तो फिल्म देखते हुए यह ख्याल आया कि महिलाएं कैसे माहवारी का कपड़ा पहुंचाने के लिए घर के नौकर को देती होंगी? वे क्या नौकरों को बताती होंगी कि इसमें माहवारी के कपड़े हैं? या फिर उस काम के लिए अलग से ही कोई नौकर रखा जाता होगा, जिसे पूछने या बताने की जरूरत नहीं पड़ती होगी? नदी में माहवारी के कपड़े धोते समय लाल होते पानी को देखते ही योसाना उस महिला को कोसते हुए मन ही मन गालियां देती हैं। उसके चेहरे पर गुस्सा और घिन के भाव दीखते हैं।

कपड़े धोते हुए पानी का लाल होना इस बात की ओर इंगित कर रहा है कि हजारों वर्षों से वे दूसरों की गंदगी धो रहे हैं और समाज उनके दम पर सुखभोग कर रहा है और दूसरी ओर अस्पृश्य समाज को प्रताड़ित कर उसका खून निचोड़ ले रहा है। जो दुनिया का नरक साफ़ कर रहे हैं, उन्हें ही नरक का द्वार कह कर अशुद्ध मान रहा है। कैसे दलितों-शूद्रों को दबाया जाये और उन्हें प्रताड़ित किया जाये, इसका उपाय हमेशा से ही ब्राह्मणवादी समाज ने अपने स्मृतियों और पुराणों में लिख रखा है। धर्म और भगवान का डर दिखाकर कोई भी नियम उन पर लादा जा सकता है। ❑

तालिबान की वापसी

❑ उर्मिलेश

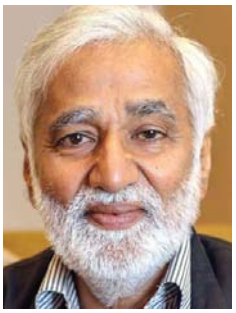

अफगानिस्तान की सत्ता में तालिबान की वापसी को लेकर कुछ भारतीय मीडिया प्लेटफार्म्स और कथित सामरिक विशेषज्ञ कई तरह से विश्लेषण कर रहे हैं। कई को यह तालिबान के समक्ष अमेरिका के समर्पण जैसा कुछ लग रहा है, कुछ को इसमें वियतनाम की छवि दिखाई दे रही है, मानो वियतनामियों की तरह तालिबानियों ने लड़ते हुए

किसी खास अमेरिकी-फार्मूले के तहत ही काबुल में तालिबान की इतने सहज ढंग से वापसी हुई है। अशरफ़ गनी भी किसी खास अमेरिकी फार्मूले के तहत ही अफगानिस्तान के राष्ट्रपति बने थे। अफगानिस्तान की जनता या राजनीति में उनकी कभी कोई हैसियत नहीं थी। मजे की बात यह कि अभी कुछ दिन पहले तक जिन अली अहमद जलाली को अंतरिम सरकार का प्रमुख या अशरफ़ गनी का उत्तराधिकारी बनाने की बात चल रही थी, वह भी अमेरिका की ही पसंद थे। वह तो वर्षों से अमेरिकी नागरिक भी हैं।

अमेरिकी सैनिकों को अपने मुल्क से भगा दिया हो! तालिबान को अफगानिस्तान की सत्ता अमेरिकी सेना से लड़कर नहीं, दोनों शक्तियों(तालिबान और अमेरिकी सरकार) की किसी अघोषित दुरभिसंधि के तहत मिली है। इसके लिए तालिबान को कोई खास संघर्ष नहीं करना पड़ा। बारी-बारी से वे अफगानिस्तानी प्रदेशों को जीतते रहे और फिर एक दिन काबुल आ पहुंचे।

अमेरिका और नाटो द्वारा प्रशिक्षित और संपोषित अफगानिस्तान की तकरीबन 3 लाख 50 हजार की सेना और पुलिस ने 50-60 हजार की संख्या वाले तालिबानी सशस्त्र उग्रवादियों का कहीं भी खास प्रतिरोध नहीं किया। सिर्फ हेरात और लश्करगाह जैसे कुछ इलाकों में ही थोड़ा-बहुत प्रतिरोध हुआ। अमेरिकी छत्रछाया में चलने वाली अफगानिस्तान की अशरफ गनी सरकार ने तालिबान के काबुल में घुसने से पहले ही समर्पण कर दिया और सिर्फ राष्ट्रपति भवन ही नहीं, अपना मुल्क भी छोड़कर भाग गये। ऐसा लगता है, मानो अशरफ गनी को सब कुछ मालूम था कि उन्हें कब क्या करना है। अफगानिस्तान की पूर्व सरकार में चीफ एक्जीक्यूटिव रहे अब्दुल्ला और गनी सरकार में रक्षा मंत्री रहे जनरल बिस्मिल्लाह मोहम्मदी भी अब यह बात खुल कर कह रहे हैं।

तालिबान के लिए सत्ता में वापसी का यह रास्ता बनाने की प्रक्रिया पिछले एक साल से चल रही थी। इसके लिए दोहा और वाशिंगटन में लगातार बैठकें, खुले और गोपनीय विमर्श होते रहे। इस प्रक्रिया में अमेरिका ने कुछ अन्य मुल्कों को भी शरीक किया, खासतौर पर ऐसे कुछ मुल्कों को, जिनकी सरहदें अफगानिस्तान से मिलती हैं। सरहदी देश न होने के चलते भारत को इसमें सीधे तौर पर कभी शामिल नहीं किया गया। हालांकि अमेरिकी शासन अफगानिस्तान में भारत के बड़े निवेश और अन्य हितों से अच्छी तरह वाकिफ था। इस पूरी प्रक्रिया में भारत की कूटनीतिक दयनीयता भी उजागर हुई है।

किसी खास अमेरिकी-फार्मूले के तहत ही काबुल में तालिबान की इतने सहज ढंग से वापसी हुई है। अशरफ़ गनी भी किसी खास अमेरिकी फार्मूले के तहत ही अफगानिस्तान के राष्ट्रपति बने थे। अफगानिस्तान की जनता या राजनीति में उनकी कभी कोई हैसियत नहीं थी। मजे की बात यह कि अभी कुछ दिन पहले तक जिन अली अहमद जलाली को अंतरिम सरकार का प्रमुख या अशरफ़ गनी का उत्तराधिकारी बनाने की बात चल रही थी, वह भी अमेरिका की ही पसंद थे। वह तो वर्षों से अमेरिकी नागरिक भी हैं। पद से हट चुके अशरफ़ गनी भी सन् 1964 से 2009 के बीच अमेरिकी नागरिक थे। समझा जाता है कि अफगानी मूल के अमेरिकी विश्वविद्यालय के प्रोफेसर अहमद जलाली को कुछ समय तक शासन का प्रमुख बनाने की तालिबान ने पहले अपनी मंजूरी दे दी थी, पर अब सत्ता का संचालन किसी संक्रमणकालीन सरकार के बगैर उसने स्वयं ही करने का फैसला किया है।

इसमें कोई दो राय नहीं होनी चाहिए कि तकरीबन दो दशक से अफगानिस्तान में जो भी होता आ रहा है, वह अमेरिका के ही नक्शेकदम पर है। दोहा में वार्ताओं के लंबे दौर से बिल्कुल साफ था कि अमेरिका ने अपने कुछ मित्र देशों से मशविरे के बाद अफगानिस्तान में सत्ता-हस्तांतरण के लिए नया प्रकल्प तैयार किया है। क्या यह प्रकल्प उसके लिए फायदेमंद नहीं होगा? क्या इसका फायदा चीन-रूस या पाकिस्तान उठा सकते हैं? अटकलों की शक्ल में ऐसे भी कुछ सवाल उठाये जा रहे हैं। एक भारतीय पत्रकार के तौर पर मैं भारत-पाकिस्तान मामलों, खासकर कश्मीर मसले को समझने की लगातार कोशिश करता रहा हूं। इसमें अफगानिस्तान का पहलू कई बार अचानक उभर आता रहा है। ऐसे में अमेरिका के इस नये 'अफगानिस्तान-प्रकल्प' को भारत ही नहीं, रूस और चीन के लिए भी बहुत आश्वस्तकारी नहीं माना जा सकता!

यह बहुत कुछ तालिबान पर निर्भर करेगा कि वह अमेरिका की हां मे हां कब तक मिलाता रहेगा और कब किसी और धुरी की तरफ जा झुकेगा? जहां तक अमेरिका का सवाल है, उसे तालिबान क्या, दुनिया के किसी भी पिछड़े या अविकसित या विकासशील देश में किसी भी निरंकुश सरकार से कभी परहेज नहीं रहा, बशर्ते कि वह अमेरिकी हितों को महत्व देती रहे। तालिबान सरकार के साथ भी उसका यही रुख रहेगा। अफगानिस्तान में भी अगर यही समीकरण जारी रहा तो भविष्य में उसके कुछ खतरनाक आयाम उभर सकते हैं। इसीलिए, भारत, रूस और चीन तीनों मुल्कों की सरकारों और सामरिक मामलों के उनके विशेषज्ञों को इस 'अनोखे सत्ता-हस्तांतरण' के अमेरिकी राजनीतिक-प्रकल्प को लेकर आश्वस्त होने से ज्यादा सतर्क रहना चाहिए। ❑

❑ *उर्मिलेश वरिष्ठ पत्रकार होने के साथ कई किताबों के लेखक भी हैं।*

अफगानिस्तान : अमेरिका की मजबूरी या नई चाल

❑ अनिल सिन्हा

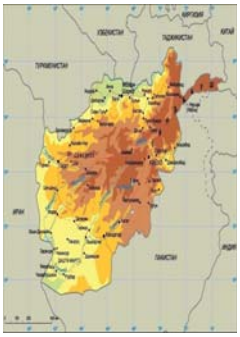

अंतरराष्ट्रीय मीडिया की इस बात के लिए तारीफ करनी पड़ेगी कि उसने तालिबान को सत्ता में आने देने और लोगों को एक जुल्मी सरकार के सामने बेबस छोड़ने के लिए अमेरिका की तीखी आलोचना की है। अमेरिका ने इस मुल्क को फिर से आतंकवाद और कट्टरपंथ के जबड़े में धकेल दिया है। सच्चाई यह है कि अमेरिका और नाटो ने आतंकवाद के खात्मे का नाटक करते-करते इसे जिंदा रखने का पक्का इंतजाम कर दिया है। यही नहीं दुनिया की दो अन्य बड़ी शक्तियां, चीन और रूस भी अपनी-अपनी जरूरतों के हिसाब से इस खेल में शामिल हैं। सवाल उठता है कि क्या अमेरिका तथा पश्चिम की सदारत में चलने वाली विश्व-अर्थव्यवस्था के लिए आतंकवाद और कट्टरपंथ को जिंदा रखने के अलावा कोई रास्ता नहीं है? क्या अफगानिस्तान की महत्वपूर्ण भौगोलिक स्थिति का फायदा उठाने और धरती के भीतर दबी खनिज संपदा को लूटने के लिए दुनिया के अमीर देश वहां वैसा ही खूनी खेल खेलने की तैयारी कर रहे हैं, जैसा उन्होंने तेल के भंडारों वाले देशों में खेला है?

यह सभी जानते हैं कि अमेरिका ने पाकिस्तान के जरिये सोवियत रूस के खिलाफ लड़ने वाले उग्रपंथी तैयार किए थे, जिससे तालिबान पैदा हुआ। वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर हमले के बाद उसने उसके खिलाफ कार्रवाई की। लेकिन पाकिस्तान उसकी मदद करता रहा। अमेरिका ने ही अल कायदा को पैदा किया और फिर उसका खात्मा किया। इसी तरह उसने इस्लामिक स्टेट (आईएसआईएस) को पैदा किया और उसे खत्म किया। अब अलकायदा और आईएस की कमर तोड़ दी गई तो तालिबान को उसने फिर से जिंदा करने का इंतजाम किया है। जाहिर है कि दुनिया के सारे आतंकवादी संगठन जश्न मना रहे हैं और नई जिंदगी की ओर बढ़ रहा अफगानी समाज, बेचैन और बदहवास है। उधर अमेरिका दुनिया को यह बताने में जुटा है कि तालिबान बदल गया है। वह यह भी बता रहा है कि अफगानिस्तान को गृहयुद्ध से बचाने के लिए इस कथित सुधरे तालिबान को स्वीकार करने के अलावा कोई चारा नहीं है।

पिछले 20 वर्षों से अफगानी जनता तालिबान के हमले झेलती रही है। उसने हजारों लोगों की कुर्बानी दी है। खौफ और दहशत के बीच भी वहां की औरतें और वहां के नौजवान एक आधुनिक समाज बनाने की कोशिश कर रहे थे। देश में विकास तथा मानवीय मदद के लिए जो संसाधन वहां आ रहे थे, उसके सहारे वे आगे बढ़ना चाहते थे। अफगानी जनता की इस जद्दोजहद को अंतरराष्ट्रीय मीडिया इस तरह दिखा रहा है, जैसे यह सिर्फ और सिर्फ अमेरिकी तथा पश्चिमी देशों की देन है। असल में, यह अमेरिका की आधी-अधूरी पहल थी, जिसे अफगानी समाज ने तिनके की तरह पकड़ लिया था और आगे बढ़ने की कोशिश में लगे थे। महिलाएं इसमें सबसे आगे थीं। लेकिन इन देशों ने वही किया, जो उपनिवेशवाद का चरित्र है। वह कभी भी लोकतंत्र और आधुनिकता का पूरा रास्ता तय नहीं करने देता है। अंग्रेजों ने हमारे साथ वही किया और अमेरिका ने अफगानिस्तान में उसी को दोहराया है।

अशरफ गनी के भाग जाने तथा तालिबान से तीन गुना बड़ी अफगानी फौज के धाराशायी होने की कहानी में अमेरिका की नीयत छिपी है। अमेरिका ने वहां ऐसी फौज तैयार की थी, जो अमेरिकी वायुसेना के बिना एक कदम आगे नहीं बढ़ सकती थी। इसके निकलते ही यह फौज धाराशायी हो गई। अमेरिका ने वहां ऐसा शासन खड़ा किया, जिसका मुखिया अपने लोगों को मंझधार में छोड़ कर भाग गया। उसने एक ऐसी सरकार बनाए रखी, जिस पर चुनावों में धांधली तथा भ्रष्टाचार के गंभीर आरोप थे। वह एक कमजोर लोकतंत्र चाहता था, जिसका इस्तेमाल मनचाहे ढंग से किया जा सके। यही नहीं, अमेरिका ने तालिबान से समझौता किया और चुनी सरकार की रही-सही साख भी खत्म कर दी। इन समझौतों में अमेरिका ने तालिबान पर युद्ध विराम या हथियार से सत्ता पर कब्जा नहीं करने की कोई शर्त नहीं रखी। उसने तालिबान को सत्ता पर कब्जा करने की अलिखित अनुमति दे दी। लेकिन इस घटना ने एक बार फिर अमेरिकी सत्ता प्रतिष्ठान के चेहरे को समाने ला दिया है। अमेरिकी राष्ट्रपति बाइडन ने भी सच्चाई बयान कर दी है कि उनका देश वहां राष्ट्र-निर्माण के लिए नहीं था। यह एक बेशर्मी से भरा बयान है। आतंक से युद्ध करने के नाम पर 20 साल तक उनकी धरती का इस्तेमाल करने के बाद अमेरिका ने तालिबान को लाकर बिठा दिया है और अब वहां हो रहे मानवाधिकारों के उल्लंघन को खामोश होकर देख रहा है।

लेकिन कट्टरपंथ और लोकतंत्र विरोधी तालिबान के खिलाफ वहीं के लोग आवाज उठा रहे हैं। कुछ लोग तो मुल्क छोड़कर अपना विरोध दर्ज करा रहे हैं और बाकी वहीं रह कर प्रतिरोध में खड़े हो गये हैं। पुरुषवादी दुनिया भले ही अफगानिस्तान की औरतों के प्रतिरोध को पहचानने के लिए तैयार नहीं हो, वहां की औरतें तालिबान के खिलाफ खड़ी हो गयी हैं। विरोध के पोस्टर लेकर खड़ी औरतों की तस्वीर से इसका अंदाजा लगाया जा सकता है।

देश का 102 वां आजादी दिवस मनाने के लिए 19 अगस्त को कई शहरों में भीड़ उमड़ आयी और उसने जगह-जगह तालिबान का झंडा उतार कर तीन रंगों वाला झंडा लगा दिया। इसे लेकर कई जगह हिंसा भी हुई। यह झंडा 1919 में अफगानिस्तान द्वारा ब्रिटिश संरक्षण से मुक्त होने के बाद अपनाया गया था। तत्कालीन शासक अमानुल्ला खान ने इसके बाद 1923 में नया संविधान भी लागू किया था, जिसमें औरतों को शिक्षा पाने का हक दिया गया था और अल्पसंख्यकों को पूरी कानूनी सुरक्षा दी गयी थी। यह एक उदार संविधान था। ब्रिटिश साम्राज्य के उत्कर्ष के उस काल में अफगानिस्तान ने न केवल अपने को ब्रिटिश संरक्षण से मुक्त किया, बल्कि उसकी मदद के बगैर अपने यहा संविधान का राज स्थापित किया और कानूनी सुधार भी किये। जनता ने खौफ के इस दौर में राष्ट्रीय गौरव का प्रदर्शन कर यह साबित किया है कि शांति स्थापना के नाम पर तालिबान को स्वीकार करा लेने की पश्चिमी देशों की कोशिश कामयाब नहीं होगी। ❑

❑ *अनिल सिन्हा वरिष्ठ पत्रकार हैं और आजकल दिल्ली में रहते हैं।*

निराशाजनक भविष्य की ओर अफगानिस्तान

❑ अरुण माहेश्वरी

अफ़ग़ानिस्तान में हामिद करजाई और अब्दुल्ला अब्दुल्ला जैसे नेताओं से पहले वार्ता और उसके बाद उन्हें नज़रबंद करने का वाक़या यह सवाल उठाता है कि उस देश में किसी सर्वसमावेशी सरकार का गठन कैसे संभव होगा, जहां किसी भी सभा में किसी की उपस्थिति या अनुपस्थिति इस बात से तय होती है कि उसके साथ बंदूक़ की कितनी बड़ी ताक़त है; जहां विचार नहीं, बंदूक़ की ताक़त का उन्माद ही सत्य हो? सम्मति का अर्थ होता है संघर्ष का अंत। यह एक बुनियादी प्रश्न है कि शुद्ध रूप से जुझारू शक्तियों के बीच सहमति कैसे क़ायम हो? नितांत निजी स्वार्थ की भी एक समग्र राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में स्थिरता के लिहाज़ से सीमित और क्षणिक भूमिका ही हो सकती है।

अंग्रेजों ने भारत की आज़ादी के साथ इसके बिखराव की बातें यूँ ही नहीं की थीं। इस बारे में चर्चिल का कथन सब जानते हैं। उन्होंने कहा था कि भारत में 'सत्ता बदमाशों, कुटिल और लुटेरों के हाथ में चली जाएगी; सभी भारतीय नेता बौने और कमजोर साबित होंगे।' पर भारत के बारे में अंग्रेजों की भविष्यवाणी शत-प्रतिशत ग़लत साबित हुई, क्योंकि वे यह नहीं देख पाए थे कि आज़ादी की लड़ाई और उस दौरान सभी स्तरों पर शुरू हो चुके एक स्वतंत्र और आधुनिक जनतांत्रिक राष्ट्र के विमर्श के बीच से भारत बदल चुका था और बदल रहा था।

आज़ादी की लड़ाई के काल में यदि कांग्रेस के व्यापक मंच के बजाय अंग्रेजों की पूरी तरह से चली होती, मुस्लिम लीग के समानांतर हिंदू सांप्रदायिक ताक़तों, रियासती राजाओं और दूसरी विभाजनकारी ताक़तों का बोलबाला होता, तो चर्चिल ने इसके पुर्जे-पुर्जे बिखर जाने की जो भविष्यवाणी की थी, उसे सच साबित होने से कोई नहीं रोक सकता था। ऐसा सिर्फ इसलिए नहीं हुआ क्योंकि कांग्रेस के आंदोलन के साथ भारत की जनता की तमाम आधुनिक आशाएँ और आकांक्षाएँ, जनता के सभी हिस्सों के हित जुड़ चुके थे। कांग्रेस किसी भी रूप में भारत में किसी प्रकार के पिछड़ेपन, धार्मिक कट्टरता और संकीर्ण सोच का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। इसी का एक परिणाम था कि जिन्ना ने भी तब पाकिस्तान की परिकल्पना एक धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र के रूप में ही पेश की थी।

अफ़ग़ानिस्तान में दशकों तक तालिबान, जो जंगलों, पहाड़ों, कंदराओं में सिर्फ एक जुझारूपन की तपस्या में लगे हुए थे, उनके लिए यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि एक सुबह अचानक जब वे इस तपस्या की तंद्रा से निकलें तो उनके लिए जुझारूपन के परे किसी अन्य विधेयात्मक लक्ष्य को देख पाना ही संभव न हो। जो सत्य सामान्यतः शिव की तरह शांति, प्रगति और स्थिरता की ओर प्रेरित करता है, उसे दशकों के शुद्ध जुझारूपन से वहाँ कुछ इस कदर विस्थापित कर दिया गया है कि दूर-दूर तक उनके लिए सत्य के किंचित् स्थिरता प्रदान करने वाले स्वरूप का कोई अनुमान ही नहीं बचा रह गया है, उससे जुड़ने का सूत्र ही कहीं टूट गया है। जैसे आइसिस है, जिसके बारे में यह बिल्कुल सही आशंका की जाती है कि यदि उसके हाथ में पारमाणविक हथियार लग गये तो इस धरती का अंत सुनिश्चित है। जुझारूपन को ही जीने के सत्य के रूप में अपनाने की एक परिणति है यह।

आज दुनिया तालिबान से माँग कर रही है कि वे एक सभ्य राज्य की तरह व्यवहार करें, औरतों और नागरिकों के अधिकारों का ख्याल रखें। यह वैसे ही है, जैसे उनसे कहा जाए कि वे अपने उस स्वात्म को ही भूल जायें, जिसकी रक्षा के लिए ही वे जंगलों, पहाड़ों में घूम रहे थे, दशकों से कंदराओं में जी रहे थे। तालिबान की अब पूरी मुहिम में जनतांत्रिक मूल्यों से जुड़े किसी भी विमर्श का कोई संकेत नहीं मिलता है और यही अफ़ग़ानिस्तान की वर्तमान परिस्थिति में अस्थिरता का सबसे मूलभूत कारण है।

इसके साथ ही यह भी सच है कि तालिबान की नियति अफ़ग़ानिस्तान की नियति नहीं है। एक राष्ट्र के रूप में अफ़ग़ानिस्तान एक शानदार ऐतिहासिक दौर से गुजर चुका है। उसे फिर से लौटाने और सहेजने की लालसा निश्चित तौर पर वहाँ प्रबल रूप में मौजूद है, भले अभी वह सामने न दिखायी दे रही हो लेकिन यही बात आज वहाँ एक नयी और स्थायी सरकार के, बल्कि ज्यादा सही कहें तो तालिबान के नेतृत्व में एक नये राष्ट्र के रूप में अफ़ग़ानिस्तान के उभार के रास्ते की एक अतिरिक्त बाधा भी है। खुद तालिबान ही राष्ट्र के लिए एक समस्या है और उसका प्रतिरोध किसी भी प्रकार की सामयिक स्थिरता के लिए बाधा है। जब तक कोई द्वंद्व किसी आत्म-बाधा के रूप में रहता है, तब तक उसे रोग नहीं भी कहा जा सकता है, पर जब यह आत्मबाधा क्रियात्मक रूप लेने लगती है, तब जुझारूपन, मरजीवीपन के अलावा कुछ शेष नहीं रह सकता है। ऐसे में सहमति या सम्मति सिर्फ सामूहिक आत्महनन का रूप ले सकती है। आज के काल में कथित जिहादीपन का इसके अलावा कोई अर्थ नहीं हो सकता कि वह किसी को भी आत्मघाती उन्माद के आवर्तन में ढकेल दे।

उन्हीं कारणों से अमेरिकी हस्तक्षेप के विरुद्ध तालिबान की जीत में हम वैसे ही किसी नये स्वाधीन राष्ट्र के उदय को नहीं देख पा रहे हैं, जैसे सीरिया में आइसिस की जीत ने सिवाय विध्वंस के वहाँ के लोगों को कुछ नहीं दिया है। जैसे आइसिस या अलक़ायदा का सर्व-इस्लामवाद, उनका शरीयत आदि का पुरातनपंथी धार्मिक पोंगापंथ से जुड़ा राष्ट्र का विचार, आधुनिक समय के साथ अपनी विसंगतियों के कारण ही किसी सकारात्मक दिशा में सहयोगी नहीं बन सकता है। वे सिर्फ संहार के कारण बन सकते हैं। तालिबान या कोई भी शक्ति यदि राष्ट्र के निर्माण के अपने सामूहिक प्रकल्प में आबादी के एक अच्छे ख़ासे हिस्से को दोयम दर्जे का नागरिक बना कर चलने के लक्ष्य को अपना कर चलती है तो वह कभी भी शांति, स्थिरता और समृद्धि का सबब नहीं बन सकती है।

अफ़ग़ानिस्तान में तालिबान के नेतृत्व में नई सरकार के गठन के रास्ते में आ रही विचारधारा और युद्धखोर सरदारों के स्वार्थों के समायोजन की अभी की बाधाओं की रोशनी में वहाँ का भविष्य निराशाजनक ही दिखाई देता है। औरतों और जनता के एक बड़े हिस्से के अधिकारों के हनन पर आधारित अफ़ग़ानिस्तान की संप्रभुता के सम्मान का तर्क जरा भी प्रभावित नहीं कर रहा है। ❑

उमायरा यदि भारत की बेटी होती तो...

उमायरा तूफानों से खेलती आई है। 9 साल की थीं तो लड़कों जैसे बाल कटाने की हिमाकत कर बैठीं। फिर क्या था, तालिबानी लड़ाके आ धमके। उमायरा जान बचाने के लिए कुएं में कूद गईं। किसी तरह जिंदा बचीं। वक्त गुजरता गया। तालिबान सत्ता से बाहर हो गया। उमायरा काबुल में ग्रेजुएशन के बाद दिल्ली आ गयीं। जेएनयू से मास्टर्स डिग्री ली। पीएचडी की। लॉकडाउन के बाद काबुल लौटी ही थीं कि तालिबान ने सत्ता कब्जाकर महिलाओं के लिए तरक्की के रास्ते बंद कर दिए। उमायरा को जान बचाने के लिए अफगानिस्तान छोड़ना पड़ा। फिलहाल वह नीदरलैंड्स के एक रिफ्यूजी कैंप में हैं। अपनी कहानी साझा करते हुए उमायरा ने दैनिक भास्कर के मुकेश कौशिक से कहा कि काश मैं हिंदुस्तान की बेटी होती, तो आज पूरे हक से अपने मुल्क में रहती।

काबुल का वह आखिरी दिन बहुत भारी था। दरवाजे से एयरपोर्ट तक दहशतगर्द थे। हमने आखिरी बार अपने आशियाने को हसरत से निहारा। जरूरत का कुछ सामान बांधकर मैं, मां और मेरा भाई निकलने लगे। मां ने सिर्फ एक तकिया मांगा, जिससे उन्हें कमर दर्द से आराम मिलता है। मैंने पता नहीं क्यों पूछ लिया कि मां, ताला लगा दूं? 'ताला तो इस मुल्क को तालिबान ने लगा दिया है। अब इस लोहे के ताले से क्या होगा...' मां के जवाब से मेरे भीतर थमा सब्र का सैलाब फूट पड़ा। मैं संभल पाती कि मां ने घर की चौखट पर दोनों पांव नमाज पढ़ने के अंदाज में टिका दिए। मैं हिंदुस्तान में जन्नत जी चुकी हूं, पर मां तो पहली बार काबुल छोड़ रही थीं। शायद सदा के लिए। वह दुआ मांगने के अंदाज में कुछ बड़बड़ा रही थीं।' अल्लाह से क्या मांग रही हो... मैंने पूछा। वह बिलख पड़ीं। बोलीं- 'ये झूठा शरिया तुम्हें मुबारक। मैं अपना ईमान, इंसानियत लेकर यहां से चली। उसके बाद हमने घर की ओर मुड़कर भी नहीं देखा। काबुल की सड़कों पर दिल्ली जैसी रेड-ग्रीन लाइटें नहीं हैं। वह शहर हमेशा अल्लाह के भरोसे रहा है। तालिबानी कब्जे के बाद पब्लिक हेल्थ को छोड़, सभी मिनिस्ट्री बंद हैं। पुलिस कहीं नहीं दिखती। बाजार ऐसे हो गए हैं, जैसे लॉकडाऊन लगा हो। हमें लगता था कि काबुल पर कब्जा कम से कम दो महीने दूर है। फिर खबर आयी कि राष्ट्रपति अशरफ गनी भाग गए हैं। हर कोई कहने लगा- गनी ने मुल्क बेच दिया। अगली सुबह पता चला कि तालिबान ने तख्त कब्जा लिया है। उसी वक्त सारी उम्मीदें खत्म हो गयीं।

टीवी चैनलों पर म्यूजिक बंद हो गया। मनोरंजन कार्यक्रम रोक दिए गये। टोलो न्यूज इस्लामी कार्यक्रम दिखाने लगा। जान बचाने के लिए जेहन में पहला नाम दिल्ली आया। जेएनयू कैंपस की यादें ताजा थीं। सरोजनी नगर की शॉपिंग और लाजपत नगर के छोले-कुल्चों का जायका भी अभी जुबां पर था। लेकिन, काबुल में भारतीय दूतावास से संपर्क नहीं हो पाया। हिंदुस्तान से लौटकर मैंने नीदरलैंड्स के एक एनजीओ के साथ काम शुरू किया था। दुबारा उससे संपर्क किया। उनके दूतावास की गाड़ी घर के सामने थी। सवार होने से पहले मां ने एक और ताकीद की। 'बुर्का पहन लो।' मेरे कानों में जैसे दहकता हुआ लोहा उड़ेल दिया हो। मैंने खुद को उस काले ताबूत में जिंदा लाश की तरह बंद कर लिया। विमान में सवार होते ही सबसे पहले मैंने बुर्का उतार फेंका। कसम खाई कि अब कभी लाश बन कर नहीं जीऊंगी। पश्चिमी मुल्क अफगानों को शरण दे रहे हैं। यह कहानी हॉलीवुड फिल्म 'शिंडलर्स लिस्ट' जैसी है। उसमें सिर्फ हुनरमंद यहूदियों को ले जाया जाता है। मेरे जेहन में वे मासूम चेहरे चीख रहे हैं, जिन्हें ले जाने वाला कोई नहीं है। वे बंदूकों के साये में पीछे छूट गये हैं।'

भारत की तुलना अफगानिस्तान से नहीं की जा सकती. मगर इसका श्रेय देश की मौजूदा सत्तारूढ़ जमात को नहीं जाता. गनीमत है कि इस जमात के उलट प्रयासों के बावजूद अब तक भारतीय समाज में उदार परंपरा बची हुई है. उमायरा यदि भारत की ही बेटी होती तो क्या पता वह कब तक और कितना महफूज रहती. उसे यह एहसास नहीं है शायद कि हमारे यहां तालिबान से प्रेरणा लेने वालों की कमी नहीं है. इमरान खान की तरह यहां भी ऐसा मानने वाले लोग हैं कि तालिबान के आने से अफगानिस्तान 'गुलामी से मुक्त' हुआ है!

प्रस्तुति : श्रीनिवास

साबरमती आश्रम से छेड़छाड़ न करे सरकार

महात्मा गांधी द्वारा स्थापित साबरमती आश्रम की मूल संरचना को अक्षुण्ण रखने के लिए 19 अगस्त 2021 को राष्ट्रपति के नाम ज्ञापन संभागीय आयुक्त एवं अतिरिक्त जिला कलेक्टर को सौंपा गया।

गांधी स्टडी सर्किल, जोधपुर द्वारा आज साबरमती आश्रम की मूल संरचना को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए राष्ट्रपति के नामक ज्ञापन संभागीय आयुक्त एवं अतिरिक्त जिला कलेक्टर जोधपुर को सौंपा गया। ज्ञापन में अध्यक्ष डॉ संतोष छापर, उपाध्यक्ष महेश विश्नोई, गांधीवादी विचारक अशोक चौधरी सहित अन्य गांधीवादी कार्यकर्ताओं ने राष्ट्रपति से निवेदन किया है कि साबरमती आश्रम महात्मा गांधी की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्रांति, जो महात्मा गांधी के मस्तिष्क में थी, का प्रतीक है। साबरमती आश्रम सामुदायिक जीवन को, जो भारतीय जनता के जीवन से सादृश्य रखता है, विकसित करने की प्रयोगशाला है। इसमें विभिन्न धर्मावलंबियों में एकता स्थापित करने, चर्खा, खादी एवं ग्रामोद्योग द्वारा जनता की आर्थिक स्थिति सुधारने और अहिंसात्मक असहयोग एवं सत्याग्रह के द्वारा जनता में स्वतंत्रता की भावना जागृत करने के प्रयोग किए गए। यह आश्रम भारतीय जनता तथा भारतीय नेताओं के लिए प्रेरणास्रोत तथा भारतीय स्वतंत्रता संग्राम से संबंधित कार्यों का केंद्र बिंदु रहा है। गत दिनों गुजरात सरकार ने साबरमती आश्रम के ऐतिहासिक महत्व के स्थलों को ध्वस्त करके वहां अंतरराष्ट्रीय स्तर का संग्रहालय स्थापित करने का निर्णय किया है, यह अत्यंत अविवेकपूर्ण है। मांग की गयी कि महात्मा गांधी के विचारों एवं रचनात्मक कार्यों के जीवंत केंद्र साबरमती आश्रम के मूलस्वरूप में कोई बदलाव नहीं किया जाए।

-अशोक चौधरी

संयोजक, गांधी स्टडी सर्कल

ख़तरे में कौन है?

❑ गुलाम मुस्तफा नईमी

सीआरपीएफ, एसएसएफ, पीएसी और रैपिड एक्शन फोर्स जैसे कई अर्धसैनिक बलों सहित भारत में लगभग 42 लाख कार्यरत सैनिक हैं। जो बाहरी दुश्मनों के साथ साथ आंतरिक स्तर पर भी देश में शांति बनाए रखने का कर्तव्य निभा रहे हैं।

सेना, पुलिस के बावजूद भी...

इसके अलावा, हर प्रदेश में पुलिस बल भी है, जो लोगों के जीवन और संपत्ति की रक्षा के लिए चौबीसों घंटे तैनात है। पुलिस बल भी 17 लाख से अधिक है। इतनी पुलिस और अर्धसैनिक बलों की उपस्थिति में कोई भी समाज चैन की नींद सो सकता है, लेकिन आश्चर्यजनक रूप से, इतने पुलिस बल के बावजूद,देश का एक वर्ग बहुत खतरे में है। भय इतना ज्यादा है कि पुलिस, सेना और अर्धसैनिक बलों के होते हुए भी इस वर्ग ने अपनी सुरक्षा के लिए स्थानीय स्तर पर दर्जनों सेनाओं का गठन किया हुआ है।

बहुसंख्यकों का डर

मज़े की बात यह है कि यह भयभीत वर्ग देश का बहुसंख्यक समाज है, जो कुल आबादी का 80% यानी लगभग 82 करोड़ है (2011 की जनगणना के अनुसार)। इसके बाद भी कुछ 'शांति पुरुषों' को लगता है कि हिंदू बहुत खतरे में हैं। इस खतरे को देखते हुए, उन्होंने छोटी और बड़ी दर्जनों सेनाओं का गठन किया है, ताकि ये सेनाएं उनके जीवन, संपत्ति और उनकी सभ्यता की रक्षा कर सकें। इन सेनाओं में हिंदू सेना, करणी सेना, राजपूत करणी सेना, हिंदू रक्षा दल, बजरंग दल, हिंदू युवा वाहिनी, दुर्गा वाहिनी, हिंदू रक्षा समिति, परशुराम सेना, विश्व हिंदू परिषद, श्रीराम सेना और धर्म रक्षा सेना जैसी दर्जनों सेनाएं हैं, जो हर गली, मोहल्ले, नुक्कड़ से लेकर देश के कोने कोने में फैली हुई हैं। मगर इतनी सारी सेनाओं के बाद भी खतरे का ग्राफ नीचे आने का नाम नहीं ले रहा है। जिस रफ्तार से सेनाएं बढ़ रही हैं, उसी गति से खतरा बढ़ रहा है।

किससे और क्या डर लगता है?

क्या वाकई कोई ख़तरा है? हिंदू समाज के हर सुलझे हुए दिमाग वाले व्यक्ति को अपने आप से सवाल करना चाहिए कि क्या वाकई हिंदू समाज खतरे में है? 82 करोड़ की आबादी वाले समाज, जिस में राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री और 20 से अधिक मुख्यमंत्री हिंदू हों, प्रशासन में सिपाही से लेकर आईजी तक, कानूनी संस्थाओं में वकील से लेकर जज तक, नगर पालिका से लेकर विधानसभा और पार्लियामेंट तक में जिस समाज का 80 से 85 प्रतिशत प्रतिनिधित्व हो, इलेक्शन कमीशन, बैंकिंग, और सचिवालय तक जिस समाज की भागीदारी हो, शैक्षणिक संस्थानों में जिनका पूर्ण वर्चस्व हो, व्यावसायिक स्तर पर जो समाज अपना पूर्ण प्रभुत्व रखता हो, आखिर उस समाज को किस से डर लगता है और क्यों लगता है?

खतरे में बहुसंख्यक या अल्पसंख्यक!

800 वर्ष तक मुस्लिम बादशाहों के शासन और लगभग दो सौ वर्ष तक ब्रिटिश शासन में रहने के बाद भी जिस समाज को कोई खतरा नहीं हुआ, तो वह समाज अब क्यों डरता है? जबकि अब तो इसी समाज के लोग शासक हैं? सत्ता और सरकार की ताकत और सबसे बड़ी जनसंख्या के बाद भी अगर डर लगता है, तो डर से छुटकारा पाने का अब कौन सा उपाय किया जाए? आखिर खतरा कहां है और किससे है?

खतरा ईसाई, सिख, जैन, पारसी और बौद्धों को होना चाहिए, जिनकी संख्या एक से ढाई प्रतिशत है या फिर मुसलमानों को खतरा होना चाहिए, जो देश के सबसे पिछड़े नागरिक हैं। जो व्यापार में शून्य और राजनीति में दूसरों की दया पर हैं। जो सरकारी संस्थानों में न होने के बराबर हैं। लेकिन हैरानी की बात यह है कि इस देश में किसी अल्पसंख्यक को ऐसा कोई खतरा नहीं है और बहुसंख्यक लगातार भय और दहशत में जी रहे हैं। देश में किसी और को तो ख़तरा हो सकता है, लेकिन बहुसंख्यक समाज के लिए कोई खतरा कैसे हो सकता है?

खतरे की राजनीति

इसे समझने के लिए लंबी-चौड़ी फाइल पढ़ने की जरूरत नहीं है। सामाजिक स्तर पर यह स्पष्ट है कि कौन सा वर्ग खुशहाल और शक्तिशाली है। असल बात यह है कि कुछ लोगों का धंधा 'खतरे' से ही चलता है। उन्हें लगता है कि अगर 'खतरा' नहीं दिखाया गया तो हमारा क्या होगा? इसलिए वे 'खतरे' के बारे में इतना शोर मचाते हैं और इतना डराते हैं कि बहुसंख्यक समाज उन पर आंख मूंद कर विश्वास कर लेता है। बाद में 'खतरे से निपटने' के नाम पर वे राजनीतिक और व्यावसायिक शक्ति हासिल करते हैं। 'खतरे' के नाम पर उन्हें जो चाहिए, वह मिल जाता है जो योग्यता के आधार पर कभी नहीं मिल सकता है।

अलग नहीं रह सकते

हालाँकि हमारे देश का सामाजिक ताना-बाना पूरी तरह से मिश्रित है। एक दूसरे के व्यवसाय, व्यापारिक और सामाजिक संबंध आपस में जुड़े हुए हैं। वे चाहें तो भी एक-दूसरे से लंबे समय तक अलग नहीं रह सकते। लेकिन बहुसंख्यक समाज खतरे के व्यापारियों के बहकावे में आकर उनके हाथ का खिलौना बन जाता है और दूसरे वर्गों से नफरत करने लगता है। सामाजिक और व्यावसायिक जरूरतों के कारण हर किसी के साथ रिश्ते बनाए रखने की मजबूरी होती है, लेकिन ये रिश्ते दिल में नफरत रखकर निभाए जाते हैं। इस तरह साथ रहकर भी दिलों की दूरियां और नफरत खत्म नहीं होती।

बहुसंख्यक समाज के लिए अच्छा होगा कि वह अपनी आँखें खोलकर वास्तविकता का एहसास करे ताकि देश में शांति व्यवस्था स्थापित हो सके और नफरत को मिटाया जा सके, इस देश में **खतरा बहुसंख्यक समाज को नहीं बल्कि इंसानियत, भाईचारे और आपसी एकता, अखंडता और सद्भावना को है और इस खतरे को समाज ही मिटा सकता है, आर्मी या पुलिस नहीं।** ❑

❑ *लेखक संवादे आज़म' के एडीटर इन चीफ हैं। अनुवाद मोहम्मद जैनुल आबेदीन का है।*

गुमस्तों का गांव
कटरांव की कहानी

❑ राहुल शर्मा

आज आपको चंपारण के ऐसे अद्भुत गांव की कहानी सुनाता हूं, जहां के लोग आज तक कभी किसी कोर्ट या पुलिस थाने नहीं गये। यह अपने आप में कैसा अनोखा प्रतिमान है कि इस गाँव के लोग कभी किसी मुक़दमे के चक्कर में पड़े ही नहीं। ऐसा नही है कि इस गाँव मे कभी कोई विवाद नहीं हुआ, पर विवाद के निपटारे के लिए यहाँ एक अलग ही पद्धति या परंपरा है, जिसका पालन यहाँ के लोग सदियों से करते आ रहे हैं। यह गाँव है बेतिया जिले के गौनाहा प्रखंड की जमुनिया पंचायत का 'कटरांव'। नरकटिया-गंज-भिखनाथोड़ी मुख्य मार्ग पर ठीक रोड के किनारे अवस्थित है यह छोटा-सा गाँव, जहाँ थारू जनजाति के लगभग 100 परिवार रहते हैं। कुछेक मुस्लिम परिवार और कुछ सैंथवार समाज के लोग भी इस गाँव में रहते हैं।

थारू जनजाति इस जिले के तराई क्षेत्र में पायी जाती है, जो बहुत ही ईमानदार और मेहनती कौम है । इस क्षेत्र में लोगों का वर्गीकरण भी 'थारुआन' और 'बजिआन' के रूप में है। तराई वाले थारू लोगों का क्षेत्र थरुहट है, इसलिए वहाँ के लोग थारुआन कहलाए, शेष वज्जि प्रदेश के लोग 'बजिआन' कहलाये। ब्रिटिश जमाने में थारू लोगों का मुख्य काम था जंगल से लकड़ी (मुख्यतः जलावन की) लाना और बसावट वाले क्षेत्रों और शहरों में बेचना। उस जमाने में ब्रिटिश अफसरों ने प्रत्येक थारू गाँव में गाँव के ही एक समझदार व्यक्ति को 'गुमस्ता' के रूप में बहाल किया, जिसकी अनुशंसा के आधार पर ही गाँव के लोगों को जंगल से लकड़ी लाने का परमिट मिलता था।

कालांतर में 'गुमस्ता' का पद एक संस्थागत व्यवस्था के रूप में विकसित हुआ और थारू समाज के लोग अपने गाँव के हर विवाद को आपसी सहमति से गुमस्ता के निर्णय को सहर्ष मानकर सुलझा लेते थे। गुमस्ता भी बहुत ही लोकतांत्रिक तरीके से समाज की सहमति से और अपनी सूझबूझ से गाँव के मामलों को सुलझा लेता था। लोगों को थाना, कोर्ट जाने की आवश्यकता नही होती थी। कालांतर में अधिकांश गुमस्ता वंशानुगत होने लगे, पर लोग जब चाहते, सहमति से गुमस्ता को बदल दिया करते।

थारू समाज के सभी गाँवों में आज भी गुमस्ता होते हैं, जिनके पास लोग पंचायत के लिए जाते हैं, परंतु पंचायती राज की संस्थाओं यथा वार्ड, पंच, सरपंच, मुखिया आदि के प्रभाव/कुप्रभाव में उनकी यह परम्परागत संस्था समय के साथ कमजोर होती गई और लोग अपने विवाद के समाधान हेतु थाना, कोर्ट जाने लगे।

कटरांव के वर्तमान गुमस्ता विनय कुमार गौरव के साथ लेखक

पर ऐसे दौर में भी यह गाँव 'कटरांव' अपने आप में एक मिसाल है, जो आज भी परम्परागत रूप से चली आ रही गुमस्ता की लोकतांत्रिक और सहमति आधारित व्यवस्था पर अटूट भरोसा रखता है और गाँव का विवाद कभी गाँव से बाहर नहीं ले जाता।

इस गाँव के वर्तमान गुमस्ता हैं विनय कुमार गौरव, जिनके दादा और पिता जी भी इस गाँव के गुमस्ता रहे और आज भी इस गाँव के लोग इस तीसरी पीढ़ी पर भी वैसे ही भरोसा करते हैं। विनय कहते हैं कि मैं चाहता हूँ कि कुछ अपना काम करूँ, लेकिन गाँव की जिम्मेदारी से बंधा महसूस करता हूँ और दादा जी तथा पिता जी की विरासत का निर्वहन कर रहा हूँ।

इसलिए यहाँ के पंच (पंचायती व्यवस्था से निर्विरोध निर्वाचित) गंगा विष्णु महतो कहते हैं कि यहाँ का चुनाव भी हमलोग आपसी सहमति से तय करके निर्विरोध ही जीतते आ रहे हैं। विष्णु दुबारा निर्विरोध जीते हैं और गाँव के लोग इस बार भी इनके नाम पर सर्वसम्मति रखते हैं। मैंने इनसे पूछा कि मैं अंचल अधिकारी हूँ, दिन भर में जमीन के सैकड़ों विवाद मेरे पास आते हैं, आपके गाँव में जमीन के विवाद का निपटारा कैसे होता है? इसके जवाब में वे मुस्कुरा कर कहते हैं, 'विवाद का क्या है? कागज में जिसका नाम होगा, उसी का दावा मान्य होगा। हम लोग आपस में मिलकर सब तय कर लेते हैं। मैं सोच रहा था कि काश हर जगह के लोग इतने सरल और सहज होते तो कितना आसान होता जमीन का विवाद सुलझाना।

गंगा विष्णु महतो के पूर्व इस गाँव के सरपंच रहे बमभोला महतो गाँव में ही एक छोटी-सी किराने की दुकान चलाते हैं और इनकी पत्नी दुर्गा, जो बहुत ही जीवट की महिला हैं, ने इस गाँव में एक काम शुरू किया, जो आज इस गाँव की महिलाओं के लिए एक मिसाल है। दुर्गा अपने साथ 5-6 महिलाओं की टीम बनाकर शादी, भोज या किसी भी तरह के पारिवारिक आयोजन में उस घर का सारा काम संभाल लेती हैं। प्रतिदिन की मजदूरी 500/- प्रति महिला लेती हैं। शुरू में इनके काम की लोग आलोचना करते थे कि दुर्गा दूसरे के घर का जूठा माँजती है पर धीरे-धीरे इनके काम को सराहना मिलने लगी और गाँव की अन्य महिलाएं भी ऐसे काम करने लगीं और देखते-देखते इस गाँव में समृद्धि आ गई। आज ये महिलाएं बिहार के सभी जिलों में जाती हैं और सफलतापूर्वक आयोजक के सारे काम संभाल लेती हैं। आज के आधुनिक 'इवेंट मैनेजमेंट' की तरह का ही ये एक नवाचार है, जिसे मेजबान का 'घरेलू

मैनेजमेंट' भी कह सकते हैं।

दुर्गा ने इस गाँव में एक नए तरह के काम की शुरुआत करके सभी महिलाओं के लिए एक मार्ग प्रशस्त किया है। आज दुर्गा का एक लड़का उपेंद्र बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी से इंग्लिश में एमए कर रहा है और बेटी सविता बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी से ही हिंदी साहित्य में ऑनर्स कर रही है। घर पर ही सविता से मुलाकात हुई। मैंने पूछा कि कोई उपन्यास जो हाल में पढ़ा हो, उसके बारे में बताओ तो उसने गोदान की अद्भुत व्याख्या की, मैं हतप्रभ रह गया। दुर्गा की आंखों में हर्ष के आँसू थे। वह चाहती है कि उसके बच्चे प्रोफेसर बनें और गर्व से कहती है कि मैंने एक-एक पैसा जोड़कर बच्चों को पढ़ाने के लिए बाहर भेजा। वहाँ उपस्थित सभी लोगों ने कहा कि इस गाँव से एक और लड़का, जिसका नाम अम्बरजीत है, मुम्बई में एसबीआई में काम करता है। हाल के दिनों में शिक्षा को लेकर इस गाँव में गज़ब की जागरूकता फैली है। सभी अपने अपने बच्चों को स्कूल भेज रहे हैं।

गाँव घूमने के क्रम में विनय ने एक घर दिखाया, जो चम्पा देवी का था। जब मैं फोटो लेने लगा तो, वे शरमा गयीं, पर जब सहज हुईं तो बताया कि पिछले साल उस समय के डीजीपी गुप्तेश्वर पांडेय इस गाँव की चर्चा सुनकर जब आये तो इनके घर में रोटी, नमक और मिर्च खाये और इनके घर में रखे जांता-चक्की को भी चलाया। गर्व और उत्सुकता से चम्पा देवी ने अपने घर में गड़ी जांता-चक्की दिखाया। इनका घर मिट्टी का था, पर सफाई इतने आला दर्जे की थी कि लगा, जैसे किसी मंदिर में आ गये हों।

गाँव के लोगों ने आपस मे चन्दा मिलाकर हनुमान जी का एक छोटा-सा मंदिर बनवाया है। ईमानदारी, लोकतांत्रिक व पारदर्शी व्यवहार की मिसाल देखिए कि इन्होंने मंदिर में लगी कुल लागत को भी इस पर पेंट किया हुआ है, मंदिर निर्माण लागत खर्च - 49,489/-। इस गाँव मे मैंने थोड़ा-सा वक्त बिताया लेकिन सीखने को बहुत कुछ मिला। आदर्श गांव की जो परिकल्पना हो सकती है, यहाँ साकार दिखी। काश, अन्य गाँव भी ऐसे ही होते! ❑

❑ *राहुल शर्मा, चंपारण में बिहार राजस्व सेवा के अधिकारी हैं।*

एक ललित टिप्पणी

देश का जुनून है या आधी रात का सपना?

❑ **राजेंद्र माथुर**

देश कैसे बनता है? कैसे कायम रहता है? क्या ठंडे सोच-विचार से, हित-स्वार्थों की चतुर समझदारी से, राष्ट्रीयता की सही वैज्ञानिक समझ से देश जन्म लेता और पनपता है? या देश एक जुनून है, आधी रात में देखा गया तर्कातीत सपना है, भावनाओं का अंधड़ है, इतिहास की भट्ठियों में उबाली गयी और जातीय स्मृतियों के सिलिंडरों में सदियों तक सिझाई गयी मनपसंद शराब है? या दोनों ही बातें गलत हैं और देश, विवेक और आवेश की एक संयुक्त संतान है, जिसके बारे में हम कभी यह नहीं जान सकेंगे कि उसे कितना आवेश ने गढ़ा है और कितना विवेक ने, कितना दोपहर के सृजन ने गढ़ा है और कितना आधी रात के सपने ने? क्या देश एक सौदा है, जो बनियों की तरह हिसाब लगाकर किया जाता है? या वह प्रेम है, जो हो जाता है? देश एक तर्क है या एक मिथक है? आधी रात को हिन्दुस्तान के लोग सपने में क्या देखें, इसका प्रबंध क्या कोई कर सकता है? 1947 में भारत का बंटवारा इसलिए नहीं हुआ कि भारत की नियति के बारे में हिन्दुओं और मुसलमानों के पास अलग ठंडे तर्क थे और वैज्ञानिक दृष्टियां थीं। यह इसलिए हुआ कि दोनों कौमों के जुनून अलग होते गये। आधी रात के सपने अलग होते गये और उनके मिथक वक्र और विपरीत बनते गये। गोखले और जिन्ना जब तक सूट और टाई पहनते थे, तब तक हिन्दू और मुसलमान की साझा संस्कृति में कोई दरार नहीं पड़ी। लेकिन गांधी जब घुटनों तक की धोती पहनकर गांव-गांव जाने लगे और आश्रम के माहौल में रहने लगे, अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि के ग्यारह-सूत्री नियम बताने लगे, अनशन करने लगे, बकरी का दूध पीने लगे और रामराज्य का जिक्र करने लगे, तो दरार पड़ गयी।

अब तक कुछ हिन्दुस्तानियों को यदि इस बात का अफसोस है कि सूट-टाई के आंग्ल संवैधानिक तरीकों से भारत ने आजादी की लड़ाई क्यों नहीं लड़ी, तो कुछ को इस बात का अफसोस है कि गरीब लोगों के बीच धर्मद्रोही वर्ग चेतना जगाकर, वर्ग संघर्ष के वैज्ञानिक नियमों से हमने अपना रास्ता क्यों नहीं चुना। काश, हम गोखले और जिन्ना के रास्ते चले होते! काश, हमने एमएन राय और डांगे को नेता माना होता। ये सब उपलब्ध थे, लेकिन हिन्दुस्तान उनके पीछे नहीं चला, क्योंकि पूरे पहाड़ में घोड़ा उसी चट्टान को चाटता है, जिसमें नमक होता है। यह भारत का खाद्य-अखाद्य बोध है कि उसने गांधी को नेता माना, दूसरे को नहीं। और भारत के भक्त कवियों की तरह यदि गांधी इस देश के अवचेतन को आंदोलित नहीं करते, यदि वे यहां एक गहरी हूक पैदा नहीं करते, तो भारत में वह जन ऊर्जा पैदा ही नहीं होती, जिसने हमारी स्वाधीनता को 1947 में संभव बनाया। गांधी को छोड़ें और नेहरू की बात करें। नेहरू से ज्यादा धर्मनिरपेक्ष, विज्ञान का पक्षधर, आधुनिक चेतन नेता तो हिन्दुस्तान ने शायद ही इस सदी में पैदा किया हो, लेकिन यदि हम जवाहरलाल के जुनून की तलाश करें, तो हम क्या पाते हैं? हम पाते हैं कि यह शख्स भारत के एक-एक आदमी का चेहरा यह टटोलते हुए पढ़ रहा था कि उस पर भारतमाता की छाप कहां है? नेहरू ने गंगा के बारे में, हिमाचल के बारे में, भारत की मिट्टी के बारे में जो लिखा है, उसे जरा एक बार फिर पढ़िये। गंगा और हिमाचल का नाम सुनकर जो झनझनाहट नेहरू को होती थी, वह क्या एक हिन्दू प्रतिध्वनि थी? नेहरू ने अपने देश को सौंदर्य-प्रतीकों, प्रेरणा-प्रतीकों और स्मृति-प्रतीकों में देखा। इन सबने उन्हें बिजली दी। इस बिजली के बगैर कोई हिन्दुस्तान में कैसे रह सकता है? ❑

महाराणा प्रताप और 'महानता' का विवाद!

❑ विजय शंकर सिंह

इधर एक नयी बहस शुरू हो गयी है, कि हल्दीघाटी के युद्ध में महाराणा प्रताप की विजय हुई थी, न कि अकबर की। यह भी कहा जाता है कि अकबर को नहीं, महाराणा प्रताप को महान कहा जाना चाहिए। आरएसएस के मित्र अक्सर यह लांछन लगाते तो हैं कि वामपंथी इतिहासकारों ने देश का विकृत इतिहास लिखा है, पर वे यह नहीं बता पाते हैं कि किस लिखे इतिहास को प्रामाणिक मान कर पढ़ा जाय। मध्यकालीन भारत के इतिहास लेखन के जो श्रोत हैं, वे मूलतः उस समय के लिखे हुए ऐतिहासिक विवरणों पर आधारित हैं जिन्हें मुगल बादशाहों के दरबारी इतिहासकारों ने लिखा है या उनकी अपनी आत्मकथा में लिखे गए हैं। स्थानीय लेखकों ने भी इन युद्धों के बारे में लिखा है। बाद में ब्रिटिश इतिहासकारों ने उन पर अध्ययन किया और एक क्रमबद्ध इतिहास लिखा। इतिहास का पुनर्लेखन बराबर होता रहता है। आज भी इन काल खंडों पर, समय समय पर कोई न कोई इतिहास की पुस्तक आ ही जाती है।

अकबर महान था, यह कोई ऐतिहासिक मान्यता नहीं है, बल्कि विंसेंट स्मिथ ने अकबर पर अपनी किताब 'अकबर द ग्रेट मुगल' लिखी, उसमें उसने अकबर को महान कहा है। पर ऐसी धारणाएं बाध्यकारी नहीं होती हैं। कोई भी इतिहास का विद्यार्थी यदि इस धारणा से असहमत है तो वह तथ्यों के अध्ययन के आधार पर, अपनी धारणा बना सकता है। कुछ लोगों का बार बार यह ज़िद ठान लेना कि राणा प्रताप को महान कहा जाना चाहिए, अकबर को नहीं, यह बताता है कि हम प्रताप को अकबर से कमतर आंकने की मनोवृत्ति से ग्रस्त हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि देश और जनमानस में प्रताप जिस प्रेरणापुंज के रूप में गहरे बसे हैं, अकबर वहां कहीं नही है।

9 मई 1540 की तिथि, हमारे लिए इसलिए महत्वपूर्ण है कि उसी दिन भारतीय इतिहास के अत्यंत वीर पुरुष, महाराणा प्रताप का जन्म हुआ था। उदयपुर, राजस्थान का एक अत्यंत खूबसूरत शहर है। उस रेत के विस्तार के बीच प्रकृति ने झीलों का अनुपम उपहार इस नगर को दिया है। उदयपुर, चित्तौड़, एकलिंग महादेव और हल्दीघाटी कोई स्थान विशेष या पर्यटन डेस्टिनेशन ही नहीं हैं, बल्कि वे भारतीय इतिहास की धरोहर हैं। ये स्थान वीरता और सर्वोच्च बलिदान की कहानियां समेटे हमें युगों से अनुप्राणित करते रहे हैं और करते रहेंगे। मुझे तीन बार उस क्षेत्र में जाने का

महाराणा प्रताप

अवसर मिला है। दो बार घूमने के उद्देश्य से और एक बार 2008 में राजस्थान विधान सभा के चुनाव के सम्बन्ध में। प्रताप की वीरगाथा और महान सिसौदिया राजवंश के दुर्दम्य आत्मसम्मान की कथाएं आज भी हम सबको रोमांचित करती रहती हैं।

प्रताप के पितामह राणा संग्राम सिंह, जिन्हें हम राणा सांगा के नाम से जानते हैं, ने आगरा के पास खानवा के युद्ध में जो 1527 में हुआ था, बाबर का जम कर मुक़ाबला किया था। बाबर कोई बड़ा योद्धा या बड़ा राजा नहीं था। मध्य एशिया के इलाक़ों में कभी कोई सल्तनत जीतते तो कभी गंवाते, कभी ईरान की और बढ़ने का इरादा कर के, फिर बलूचों के विरोध से डर कर वह भारत की ओर मुड़ गया। अपनी आत्मकथा में वह स्वीकार करता है कि इब्राहिम लोधी से वह डरा हुआ था। लेकिन उसके पास तोपें थीं, जो भारतीय सेना के लिए अनजान थीं। वक्त उसके साथ था। पानीपत का युद्ध उसने जीता और आगरा की और बढ़ आया। सांगा के बहादुरी के किस्सों से वह अनजान भी नहीं था। अंत में फतेहपुर सीकरी के पास खानवा के मैदान में 16 मार्च 1527 को उसका सामना राणा सांगा से हुआ। दोपहर तक युद्ध का परिणाम तय हो गया था। राणा सांगा लड़े और अत्यंत वीरता से लड़े, पर वे जीत नहीं पाये। खानवा के युद्ध ने देश में एक नये साम्राज्य की नींव रख दी। लोक में राणा सांगा के बारे में जो वीरगाथा सुरभित है, उसमें राणा सांगा को अस्सी घाव लगने की बात कही जाती है। बाबर ने राणा सांगा का शौर्य देखा और उस महान योद्धा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। बाबर ने पूरे युद्ध का सार एक ही वाक्य में कह दिया, 'राजपूत मरना जानते हैं, लड़ना नहीं!'

प्रताप इसी परम्परा के थे। नियति ने इन्हें अकबर से भिड़ा दिया। लेकिन अकबर बाबर की तरह राज्य की तलाश में भटकता हुआ एक सामंत नहीं था। उस तक आते आते मुग़ल साम्राज्य की नींव पुख्ता हो गयी थी। भारत के राजपूत राजवंशों और धर्म के मर्म को वह समझ गया था। उसकी धार्मिक उदारता का प्रतिफल भी उसको मिला। राजस्थान के लगभग सभी बड़े राजवंश उसके वर्चस्व को स्वीकार कर चुके थे। बस शेष था तो यही मेवाड़। मेवाड़ के राजा तो स्वयं एकलिंग महादेव है। एकलिंग शिव, सिसौदियों के कुल देवता हैं और वहां के महाराणा एकलिंग महादेव की ओर से ही शासन करते हैं, ऐसी मान्यता है वहां। जयपुर के राजा मान सिंह, जो मुग़ल सम्राट के सबसे करीबी और सेनापति थे, को इस मुहिम में लगाया गया। प्रताप को मनाने और वर्चस्व

स्वीकार करने का दायित्व लेकर वह प्रताप से मिलने गए, लेकिन प्रताप अलग ही मिट्टी के बने थे। उन्होंने अधीनता स्वीकार करने से मना कर दिया। साम्राज्यवाद भी एक नशा है। जब चढ़ता है तो धरती भी छोटी पड़ जाती है। अब युद्ध अवश्यम्भावी हो गया था।

18 जून 1576 को अकबर के राज्यारोहण के बीस साल बाद यह युद्ध हुआ। बीस साल तो अकबर को विरासत में प्राप्त छिन्न भिन्न राज्य को संभालने में लगा था। खमनेर नामक स्थान के पास, दो पहाड़ों के बीच हल्दी जैसे रंग वाली मिट्टी के मैदान में मुग़ल और मेवाड़ सेनाओं के बीच युद्ध हुआ। प्रताप की तरफ से हकीम खान सूर और मुग़ल सम्राट की ओर से राजा मान सिंह थे। युद्ध भीषण था, पर अंत तक अनिर्णायक ही रहा। इस युद्ध की भीषणता के बाद, मेवाड़ और दिल्ली के बीच कोई युद्ध नहीं हुआ। प्रताप बनवासी हो गए। भटक भटक कर सेना तैयार की। भामाशाह, जो मेवाड़ के बड़े सेठ थे, ने धन दिया। मेवाड़ को मुक्त कराने की अदम्य इच्छाशक्ति लिए प्रताप ने हार नहीं मानी। वे लड़ते रहे और अपनी मृत्यु तक उन्होंने अपनी रियासत का अधिकांश भाग मुक्त करा लिया था। हल्दीघाटी के उस युद्ध के बाद अकबर का प्रताप से कोई सीधा युद्ध नहीं हुआ था। इस युद्ध का आँखों देखा विवरण अब्दुल क़ादिर बदायूंनी, जो एक इतिहास लेखक था, ने 'तारीख ए बदायूंनी' में किया है। इस युद्ध में बींदा के झाला मान ने अपने प्राणों का बलिदान करके महाराणा प्रताप के जीवन की रक्षा की थी।

दिल्ली और मेवाड़ का युद्ध, दिल्ली के साम्राज्य विस्तार और मेवाड़ द्वारा अपने राज्य को बचाने का युद्ध था। यह युद्ध भारत को बचाने या भारत से मुग़ल वंश को उखाड़ने हेतु नहीं लड़ा गया था। साम्राज्य विस्तार दुनिया भर के राज्यों और राजाओं की मूल प्रवृत्ति रही है। अश्वमेध और राजसूय यज्ञ इस प्रवित्ति को शास्त्रीय रूप प्रदान करते हैं। अकबर बड़ा राजा था। प्रताप उसकी तुलना में छोटे राज्यों के राजा थे। राजस्थान की लगभग सभी राजपूत रियासतें दिल्ली के समक्ष नत मस्तक थीं। विरोध का स्वर अकेले मेवाड़ से उठा था। यह दो राजाओं के बीच होने वाली राजनीतिक वर्चस्व की लड़ाई थी, जो ऋग्वेद के सप्तम मंडल में उल्लिखित दाशराज युद्ध और देवासुर संग्रामों की श्रृंखला से लेकर आज तक चल रही है और आगे भी चलती ही रहेगी। यह युद्ध धर्म के लिए नहीं था। अकबर मुस्लिम था, पर मुग़ल सेनापति के रूप में मान सिंह थे। प्रताप हिन्दू थे पर मेवाड़ की सेना का सेनापति हकीम खान सूरी था। जो लोग इस युद्ध के कारण के रूप में हिन्दू मुस्लिम एंगल ढूंढने की कोशिश करते हैं, उन्हें इस युद्ध से जुड़े इतिहास का अध्ययन कर लेना चाहिए।

अक्सर कुछ लोग यह सवाल उठाते हैं कि अकबर को तो महान कहा जाता है, प्रताप को क्यों नहीं ? प्रताप को भी आप महान कहें, किसी को भी इस पर आपत्ति नहीं होगी। देश के शायद सभी बड़े शहरों में राणा प्रताप की मूर्तियाँ है, उनकी जयन्ती मनायी जाती है। उनकी भव्य मूंछों वाली तस्वीर मैं अपने गाँव घर में बचपन से देखता आया हूँ। प्रताप मेवाड़ी लोकगीतों में है और श्याम नारायण पाण्डेय के अमर वीर काव्य में भी हैं। अकबर को महान कह देने से प्रताप की महानता में कमी नहीं आ जाती। मैं मेवाड़ की आज़ादी के युद्ध या संघर्ष को भारत की आज़ादी का संघर्ष नहीं मानता हूँ। वह संघर्ष मेवाड़ के लिए था। भारत की राष्ट्रीय चेतना, जो हमारे स्वाधीनता संग्राम में और वह भी 1857 के विप्लव के बाद आयी, वह अकबर और प्रताप के समय थी ही नहीं। अकबर मेवाड़ को हड़पना और अपनी राजनीतिक आधीनता में लाना चाहता था। लेकिन प्रताप न झुके और न ही टूटे। न च दैन्यम् न पलायनम्! तीस साल की अवधि, हल्दीघाटी के युद्ध के बाद, उन्होंने मेवाड़ के जंगलों में बितायी। घास की रोटियाँ खायीं। पर प्रताप न टूटे, न झुके। अकबर की महानता के बखान से प्रताप की अनुपम वीरता के किस्से धुंधला नहीं जाते।

प्रताप क्षत्रिय थे। वे सिसौदिया राज वंश के थे। पर वह सिर्फ क्षत्रियों के ही पूज्य नहीं है। वह सम्पूर्ण देश की धरोहर हैं। उनका सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने साम्राज्य विस्तार के नशे के विरुद्ध तलवार उठायी और अपनी प्रजा को आज़ादी के लिए अनुप्राणित किया। मेवाड़ के राज परिवार की ओर फिर कभी भी दिल्लीश्वरों या जगदीश्वरों ने आँख उठा कर नहीं देखा। 1911 के दिल्ली दरबार में जब ब्रिटेन के सम्राट, जॉर्ज पंचम आये थे और देश के सारे राजा महाराजा अपनी आन, बान और शान से उस दरबार में उपस्थित थे, तब भी उदयपुर के तत्कालीन महाराणा उस दरबार में नहीं गए थे और उनकी कुर्सी वहाँ खाली थी। वह कुर्सी आज भी उदयपुर के सिटी म्यूजियम में सुरक्षित है। आप उसे देख सकते हैं। मैंने उसे देखा है।

आज यह कहा जा रहा है कि राणा प्रताप ने युद्ध जीता था और अकबर हारा था। इस तर्क को मान भी लें तो कई तथ्य उठ खड़े होते हैं। जैसे, इस युद्ध मे अकबर शामिल ही नहीं था। अकबर की तरफ से उसके सेनापति राजा मान सिंह ने युद्ध में मुग़ल सेना का नेतृत्व किया था। युद्ध का निर्णय ही नहीं हुआ था। मध्ययुगीन साम्राज्य विस्तार के लिए हुए युद्धों में, युद्ध का निर्णय किसी एक पक्ष के राजा की हत्या या उसे बंदी बना लेने या आत्मसमर्पण कर देने से होता था। यहां प्रताप ने, न तो आत्मसमर्पण किया, न ही वे बंदी बनाये जा सके और न ही वे मारे गए। उन्हें मुग़ल फौजें पकड़ ही नहीं सकीं और युद्ध बिना हारजीत के ही अनिर्णीत रहा।

इन सब तथ्यों के विपरीत यदि यह मान भी लिया जाय कि इस युद्ध में प्रताप की विजय हुई थी तो फिर यह सवाल उठता है कि जीतने के बाद फिर प्रताप जंगल जंगल क्यों भटके? उन्होंने घास की रोटियां क्यों खायीं? 30 साल तक का बनवास क्यों झेला? प्रताप की महानता उनकी स्वतंत्रचेता जिजीविषा और दिल्ली के समक्ष न झुकने में हैं। जब राजस्थान के सारे रजवाड़े अकबर के साथ थे, तब प्रताप अपनी रियासत की आज़ादी के लिए संघर्ष कर रहे थे। आज़ाद रहने की यही ललक, उन्हें देश के इतिहास में एक अलग स्थान पर रखती है। उन्हें महान कहें या न कहें, पर वे समकालीन इतिहास में सबसे दुर्घर्ष योद्धा थे। प्रताप और अकबर के बीच महान कौन है, इस पर बहस बेमानी है। ❑

न्याय के लिए सर्वोदयी योद्धा का न्यायालय से अनवरत संघर्ष

❑ डॉ स्नेहवीर पुण्डीर

सर्वोदय आन्दोलन ने इस देश को अनेक महान विभूतियाँ दी हैं। ऐसी ही एक महान विभूति मेरठ में कृष्ण कुमार खन्ना जी हैं। कृष्ण कुमार एक ऐसे अनथक योद्धा हैं, जो देश की आजादी के लिए जेल गये, वहीं जब देश में लोकतंत्र पर संकट के बादल मंडराये तो आपातकाल के विरुद्ध सत्याग्रह करके फिर जेल गये। जेल जाने का यह सिलसिला यहीं नहीं रुका, बल्कि अभी तक कई बार भारतीय न्याय व्यवस्था में व्याप्त अनियमितता और भ्रष्टाचार के विरुद्ध लड़ते हुए भी खन्ना जी और उनके साथी जेल जा चुके हैं। उनका यह संघर्ष यहीं नहीं रुका। वह हमेशा गलत के विरुद्ध गाँधी और विनोबा के बताये अहिंसक मार्ग पर चलते हुए जूझते रहते हैं।

आपातकाल का विरोध

आजादी की लड़ाई में भाग लेने वाले अनेक लोगों ने आजादी मिलने के बाद चैन की सांस ली कि अब अपना देश और अपने लोग हैं, जिनसे संघर्ष की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन देश में कुछ ऐसे लोग भी रहे, जिनका संघर्ष आजादी आने के बाद भी अनवरत जारी रहा। कृष्ण कुमार खन्ना उन्हीं योद्धाओं में से एक हैं। आपातकाल लागू होने का भी उन्होंने विरोध किया और सत्याग्रह करते हुए मेरठ के बाजारों में विरोध करने लगे। उन्होंने सदर बाजार मेरठ में निडरता के साथ घूमते हुए नारे लगाये, 'इमरजेंसी तोड़ दो, देश के नेता छोड़ दो'। परिणामस्वरूप उन्हें और उनके लगभग पन्द्रह गांधीवादी सर्वोदयी साथियों को गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया गया।

सात दिन की सजा

फिलहाल हम खन्ना जी के जिस महत्वपूर्ण संघर्ष की बात हम कर रहे हैं, वह उनका न्यायालयों में व्याप्त भ्रष्टाचार और अनियमितताओं के विरुद्ध संघर्ष है। वह बताते हैं कि, '1992 में हमें बहुत से लोगों ने बताया कि अदालतों में बहुत भ्रष्टाचार व्याप्त है, तारीख देने जैसे सामान्य कामों के लिए भी एक बड़ी रकम वसूल की जाती है और जज भी समय पर नहीं आते हैं। हमने विचार किया कि न्यायालयों के विरुद्ध आजाद देश में भी कोई आवाज़ नहीं उठाता है तो हमें ही यह आवाज़ उठानी चाहिए। यह निश्चित करके मेरठ के सर्वोदयी लोगों ने न्यायालयों में ढोल-मजीरे और घंटियाँ बजाकर कीर्तन करके उन लोगों का विरोध करना शुरू किया, जो समय से अपनी ड्यूटी पर नहीं आते थे।

एक दिन एक जज ने हमें पकड़वाया और सात दिन की सजा या 100 रूपये जुर्माने की सजा सुनायी। थोड़ी ही देर में जज साहब ने अपने चैम्बर में बुलाकर समझौते की बात की और आग्रह किया कि आप लोग जुर्माना भर दीजिये और बस इस बात को समाप्त कीजिये। हमने जवाब दिया कि 'जुर्माना तो हमने कभी अंग्रेजों को भी नहीं दिया, सजा ही भुगती; अब भी सजा ही भुगतेंगे।' मामला डिस्ट्रिक्ट जज के यहाँ पहुंचा तो उन्होंने कहा कि ये लोग ढोल भी बजाते हैं, इसलिए 7 दिन की सजा बहाल रहेगी। जेल से आकर सर्वोदयी लोगों ने फिर से अदालतों में कीर्तन शुरू कर दिया।

खन्ना जी और उनके गांधीवादी सर्वोदयी साथियों का यह संघर्ष लगातार चलता रहा तो सन् 2003-04 में फिर एक जिला जज ने इन गांधीवादी आंदोलनकारियों की गिरफ्तारी करा दी। अब की बार गिरफ्तार सर्वोदयी साथियों में चार महिला सर्वोदयी भी थीं। यह मुकद्दमा सीजेएम के न्यायालय में शुरू हुआ। इस बार आन्दोलनकारियों ने कहा कि जिस जिला जज ने हमें गिरफ्तार कराया है, पहले उनका बयान हो कि हमारा गुनाह क्या है? तब हम कुछ बयान देंगे, मामला फंस गया। लगभग 5-7 दिन तक यही गहमागहमी चलती रही। फिर मेरठ के कई वकील खुद ही बिना फीस लिए इस केस को लड़ने के लिए आगे आ गये। लगभग 50 दिन तक हर दूसरे तीसरे दिन सुनवाई चली। इस बीच केस की सुनवाई कर रहे जज साहब एक दिन खुद लेट आये तो सर्वोदयी आन्दोलनकारियों ने भरी अदालत में जज के लेट आने पर ही सवाल खड़ा कर दिया, जिससे जज साहब सकते में आ गये। केस की लगातार सुनवाई से लग रहा था कि जैसे अदालत भी आन्दोलनकारियों से पीछा छुड़ाना चाहती थी। लगभग 50 दिन बाद सीजेएम ने फैसला सुनाया कि इन लोगों ने गुनाह तो किया है, लेकिन इन 50 दिनों को ही इनकी सजा मानकर बरी किया जाता है। केस के लगभग 2 महीने बाद इन सर्वोदयी लोगों को जेल भेजने वाले जिला जज को बर्खास्त कर दिया गया और हाईकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश ने खुद मेरठ आकर खन्ना जी और उनके सर्वोदयी साथियों से भेंट करके केस के विषय में बात की और बंद कमरे में स्वीकार किया कि हाँ, न्यायालयों में भ्रष्टाचार है।

गलत का विरोध

मेरठ के क्रान्तिकारी सर्वोदयी कृष्ण कुमार खन्ना आज 95 वर्ष की उम्र में भी हर बुधवार के दिन जिला जज की अदालत के बाहर अपना बैनर और तख्तियां लगाकर बैठते हैं और भ्रष्टाचार का विरोध करते हैं। उन्होंने उच्च न्यायालय, उच्चतम न्यायालय और देश के प्रधानमंत्री तक को इस भ्रष्टाचार के बारे में पत्र लिखा है। मेरठ के यह सर्वोदयी नेता हजारों लोगों और खुद सर्वोदयी लोगों के लिए प्रेरणा पुंज हैं कि गलत काम का विरोध हमेशा जारी रहना चाहिए। खन्ना जी का यह संघर्ष लगातार जारी है। ❑

एक वेविनार की रपट

न्याय, न्यायालय और न्यायमूर्ति

'समय आ गया है कि भारतीय दंड संहिता की धारा 124ए (देशद्रोह) को असंवैधानिक करार दिया जाए।' 'यूएपीए (गैरकानूनी गतिविधि रोकथाम अधिनियम) जैसा कानून वर्तमान स्वरूप में कानून की किताब में नहीं रहना चाहिए।'

सुप्रीम कोर्ट के पूर्व न्यायाधीश दीपक गुप्ता एक वेबिनार में बोल रहे थे, जिसका विषय था -''लोकतंत्र, असहमति और कठोर कानून''। न्यायमूर्ति दीपक गुप्ता ने देशद्रोह और यूएपीए के प्रावधानों की अस्पष्टता और परिणामस्वरूप इनका दुरुपयोग कैसे किया जाता है, इस पर अपने विचार रखते हुए कहा- 'भारतीय संविधान दुनिया के उन कुछ संविधानों में से एक है, जिसमें 32 जैसा आर्टिकल शामिल है, जिसके तहत मौलिक अधिकारों को लागू करवाने के लिए सर्वोच्च न्यायालय जाने का अधिकार अपने आप में एक मौलिक अधिकार है। जब आप इन भूमिकाओं को एक साथ जोड़ते हैं, तो इस बात पर आना बहुत आसान हो जाता है कि जो कानून बहुत अस्पष्ट हैं, उन्हें अदालत द्वारा यह कहकर हटा दिया जाना चाहिए कि अगर आप ये चीजें करेंगे, तभी कानून मान्य होगा, अन्यथा ऐसा नहीं होगा। देशद्रोह और यूएपीए, दोनों कानूनों में अस्पष्टता, अभियोजन एजेंसी को लोगों पर आरोप लगाने में मदद करती है।'

सूरत का मामला

न्यायाधीश ने यूएपीए के तहत गिरफ्तारी की बढ़ती प्रवृत्ति और लंबे समय तक जेल में रखने की प्रवृत्ति को 'चिंताजनक' बताया, जबकि बाद में ऐसे मामलों में आरोपी बरी हो जाता है या उसे आरोपमुक्त कर दिया जाता है। उन्होंने महाराष्ट्र एटीएस द्वारा अगस्त 2012 में नांदेड़ से गिरफ्तार किये गये मुहम्मद इलियास और मोहम्मद इरफान के मामले का उल्लेख किया, जिसकी गिरफ्तारी को आग्नेयास्त्रों की जब्ती से जोड़ा गया था और कहा गया था कि वे राजनेताओं, पुलिस अधिकारियों और पत्रकारों को मारने के लिए लश्कर-ए-तैयबा द्वारा रची गयी साजिश का हिस्सा थे। उन्हें हाल ही में एनआईए कोर्ट ने बरी कर दिया था। उन्होंने यह भी बताया कि कैसे एक मामले में गिरफ्तारी के 19 साल बाद सूरत के मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट की अदालत ने सभी 127 लोगों को स्टूडेंट्स इस्लामिक मूवमेंट ऑफ इंडिया (सिमी) जैसे 'प्रतिबंधित संगठन को बढ़ावा देने' के आरोप से बरी कर दिया।

न्यायमूर्ति गुप्ता ने एक मामले का उल्लेख किया कि 'नताशा नरवाल (एंटी-सीएए कार्यकर्ता) को जमानत नहीं मिली, लेकिन इस अवधि के दौरान उसके पिता की मृत्यु हो गई। सिद्दीकी कप्पन (एक दलित महिला के कथित सामूहिक बलात्कार-हत्या को कवर करने के लिए हाथरस जाने वाले पत्रकार को अक्टूबर 2020 में गिरफ्तार किया गया था) की मां की मृत्यु हो गई, जबकि वह जेल में था। 84 वर्ष के फादर स्टेन स्वामी (भीमा कोरेगांव आरोपी, जिनकी हिरासत में मृत्यु हो गई), पार्किंसंस रोग से पीड़ित थे और उन्हें इलाज के लिए जमानत की जरूरत थी लेकिन जमानत नहीं मिली। क्या हमने मानवता का सारा स्पर्श खो दिया है? इसमें कोई संदेह नहीं है कि बॉम्बे हाई कोर्ट ने यह सुनिश्चित किया कि उसे जेल में उचित इलाज मिले, लेकिन आप बाहर क्यों नहीं आ सकते? जमानत देते समय यह विचार होता है कि आरोपी भागे नहीं और गवाहों को प्रभावित न करे एवं उसे जांच के लिए उपलब्ध होना चाहिए। ऐसे में अगर अदालत फादर स्टेन स्वामी को जमानत देती तो उसके पास इस तरह के प्रतिबंध लगाने की पर्याप्त शक्ति थी।'

न्यायमूर्ति गुप्ता ने कहा कि 'मेरी राय में, इस कानून का एक प्रावधान जमानत देने के लिए उच्च न्यायालयों की शक्ति को छीन लेता है और आरोपी व्यक्ति को न्यायिक समीक्षा की शक्ति से वंचित करता है, इसलिए यह असंवैधानिक है। आप एनडीपीएस अधिनियम के तहत जमानत के लिए शर्तें निर्धारित कर सकते हैं, लेकिन यहां शर्त यह है कि आपको धारा 173 के तहत दायर रिपोर्ट में कही गई हर बात पर विश्वास करना होगा और अगर आप उन बातों को मानते हैं, जो पुलिस ने 173 की रिपोर्ट में कहीं है, तो कोई जमानत नहीं दी जा सकती। अपने स्तर पर हर पुलिस अधिकारी यह सुनिश्चित करेगा कि 173 की रिपोर्ट में प्रथम दृष्टया मामला बनता हो।' यह देखते हुए कि यूएपीए का आवेदन राष्ट्रविरोधी गतिविधियों से जुड़ा है।

न्यायाधीश ने कहा कि जिला अदालतें जमानत देते समय सोशल मीडिया पर आने

महत्त्वपूर्ण सूचना

सोशल मीडिया के विभिन्न प्लेटफार्म्स पर सर्वोदय जगत के एकाउंट्स शुरू हो गये हैं। इसके अलावा सर्वोदय जगत की वेबसाइट भी शुरू की गयी है। पाठकों की सुविधा के लिए इन सभी के लिंक्स दिये जा रहे हैं। सर्वोदय जगत से जुड़े रहने के लिए पाठक इन विभिन्न लिंक्स पर विजिट कर सकते हैं।

Facebook

Website > www.sarvodayajagat.com
Facebook > https://www.facebook.com/sarvodayajagat
Twitter > https://twitter.com/sarvodayajagat
Instagram > https://www.instagram.com/sarvodayajagat/
YouTube > https://www.youtube.com/channel/UCmSaqcLG7HG2EoX5NePfvgQ

Youtube

वाली प्रतिक्रियाओं और जनता की राय के बारे में चिंतित हो सकती हैं। उन्होंने आग्रह किया कि 'उच्च न्यायालयों और सर्वोच्च न्यायालय को आगे आकर नेतृत्व करना होगा, क्योंकि न्यायालयों की दो भूमिकाएं होती हैं - न्यायिक भूमिका और नागरिकों के मानवाधिकारों के रक्षक और समर्थक होने की भूमिका।

कानून के दुरुपयोग की गुंजाइश न हो

यद्यपि न्यायमूर्ति गुप्ता ने स्वीकार किया कि हम इस तथ्य पर पूरी तरह से अपनी आँखें बंद नहीं कर सकते हैं कि आतंकवाद आज एक चिंता का विषय है। उन्होंने जोर देकर कहा कि किसी भी आतंकवाद विरोधी कानून को बहुत सख्ती से लागू किया जाना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि जब बॉम्बे हमले जैसा कुछ होता है, तो यह हम सभी के लिए चिंताजनक है। मैं यह कहने की हद तक नहीं जाऊंगा कि किसी अधिनियम की बिल्कुल भी आवश्यकता नहीं है। लेकिन कानून को बहुत सावधानी से लागू किया जाना चाहिए, इसका उपयोग केवल आतंकवादी गतिविधियों के खिलाफ किया जाना चाहिए। इसे इस तरह से तैयार किया जाना चाहिए और अदालतों द्वारा इस तरह से व्याख्या की जानी चाहिए कि इसके दुरुपयोग की कोई गुंजाइश न रहे।

उन्होंने यह भी राय व्यक्त की कि 'यूएपीए' जैसे कानून को कानून की किताब में उस रूप में नहीं रहना चाहिए; जिस रूप में यह अभी है। लालबहादुर शास्त्री ने कहा था कि अगर मुझे नागालैंड और मणिपुर में समस्याओं से निपटना है, तो मुझे इस तरह के ऐक्ट की आवश्यकता नहीं है, बल्कि मैं आमने-सामने बात करके इससे निपट सकता हूं।

कानून की समीक्षा आवश्यक

न्यायमूर्ति गुप्ता ने कहा कि अब समय आ गया है कि कानून के उस प्रस्ताव पर फिर से विचार किया जाये, जिसका अदालतों ने हमेशा पालन किया है। जब किसी कानून की संवैधानिकता को चुनौती दी जाती है तो केवल इस आधार पर कि दुरुपयोग की गुंजाइश है, कानून को रद्द नहीं किया जा सकता है लेकिन जब कभी दुरुपयोग हो, तब अदालतें इसकी जांच कर सकती हैं। मुझे लगता है कि कानून के इस प्रावधान पर फिर से विचार करने की जरूरत है, अगर कोई कानून घोर दुरुपयोग करने में सक्षम है और अदालत के सामने यह साबित हो गया है कि इसका दिन-प्रतिदिन दुरुपयोग किया जा रहा है, तब उस कानून की समीक्षा आवश्यक हो जाती है।

मणिपुर के उस सज्जन को देखिए, जिसने कहा था कि गोमूत्र से कोरोना का इलाज नहीं होगा और उसे एनएसए के तहत सलाखों के पीछे डाल दिया गया (सुप्रीम कोर्ट ने मणिपुर के राजनीतिक कार्यकर्ता एरेन्ड्रो लीचोम्बम को रिहा करने का आदेश दिया था, जिसे कड़े राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम के तहत हिरासत में लिया गया था क्योंकि उन्होंने एक फेसबुक पोस्ट में कहा था कि गोबर या गोमूत्र से कोरोना का इलाज संभव नहीं होगा)। जज ने पूछा कि क्या हम पुलिसराज में रह रहे हैं?

अदालतें अपनी शक्ति का उपयोग करें

न्यायमूर्ति गुप्ता ने कहा कि न्यायालय को पहले के कई फैसलों पर फिर से विचार करना होगा और देखना होगा कि जहां कानून को चुनौती दी गई है, अगर वह घोर दुरुपयोग करने में सक्षम है, तो अदालत आर्टिकल 142 के तहत अंतर्निहित अपनी शक्तियों का उपयोग करते हुए,इन कानूनों के तहत मामला शुरू करने के लिए दिशानिर्देश निर्धारित कर सकती हैं। जस्टिस गुप्ता ने एक महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किया कि 'यूएपीए के तहत गलत तरीके से कैद होने के मद्देनजर मुआवजे का भुगतान करना होगा, जैसे कि मणिपुर के इस सज्जन का मामला था। डीएम को भुगतान करने के लिए दायित्व के साथ बांधा जाना चाहिए ताकि अगली बार जब उनके राजनीतिक गुरु उनसे किसी आदमी को सलाखों के पीछे करने के लिए कहें तो वह ऐसा करने से पहले सोचेंगे, क्योंकि मुआवजा उनकी अपनी जेब से जाएगा। अदालतों को कानून प्रवर्तन एजेंसियों के साथ भी सख्त होना चाहिए, न कि उन लोगों के साथ, जो इन कानूनों के शिकार हैं।

दिल्ली हाईकोर्ट का उल्लेखनीय फैसला

न्यायाधीश ने खेद व्यक्त किया कि कुछ न्यायाधीशों को अभी भी यह नहीं पता है कि आतंकवाद क्या है? और देशद्रोह क्या है? उन्होंने सीएए विरोधी तीन छात्र कार्यकर्ताओं को जमानत देने के लिए दिल्ली हाईकोर्ट के फैसले की सराहना की। न्यायमूर्ति गुप्ता ने कहा कि 'मैं बहुत खुश हूं कि दिल्ली हाईकोर्ट ने यह फैसला सुनाया। यह बहुत अच्छी तरह से लिखा गया फैसला है। यह यूएपीए के संबंध में अपनाये जाने वाले दृष्टिकोण का सबसे अच्छा विश्लेषण हो सकता है। इस मामले में दिल्ली हाईकोर्ट का फैसला उल्लेखनीय है, जिसमें कहा गया कि यूएपीए के तहत कोई मामला नहीं बनता है। उन्हें 43डी पर विचार करने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि यह कोई आतंकवादी गतिविधि नहीं है। अदालत ने कहा कि आरोपी सीएए के खिलाफ कुछ विरोध प्रदर्शन, 'चक्का-जाम' आयोजित कर रहे थे, तो यूएपीए लगाने का सवाल ही कहां पैदा होता है! ❑

सर्वोदय जगत का अक्टूबर विशेषांक

2 अक्टूबर को बैरिस्टर मोहनदास करमचंद गांधी का जन्मदिन है। इस अवसर पर सर्वोदय जगत का विशेषांक प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया है। वरिष्ठ पत्रकार रामदत्त त्रिपाठी इस अंक के अतिथि संपादक होंगे। बैरिस्टर गांधी को हम महात्मा गांधी के नाम से आदर देते हैं। महात्मा गांधी समूची दुनिया में जाने जाते हैं, शायद सबसे अधिक। उनका कौन-सा रूप आपको अच्छा लगता है—आज्ञाकारी पुत्र, एक जागरूक नागरिक, जुझारू और क्रांतिकारी राजनीतिक नेता, आध्यात्मिक गुरु, मैनेजर, बैरिस्टर, लेखक, पत्रकार, संपादक, प्रकृति-पर्यावरण संरक्षक, शाकाहार के प्रचारक, कुदरती उपचार, मरीज़ों की सेवा, आश्रम निर्माता-इंजीनियर, उद्यमी, चरखा, खादी, अख़बार, प्रिंटिंग प्रेस, पति, पिता या कोई और?

अपनी टिप्पणी तीन सौ से एक हजार शब्दों में लिखें और अपनी सामग्री ई-मेल आईडी sarvodayajagat.editorial@gmail.com पर भेजें। साथ में अपना ईमेल पता और WhatsApp नंबर भी देने का कष्ट करें। **-सं.**

नेहरू का लेखन, ज्ञान और संवेदना का रचनात्मक संयोग

❑ डा. के. बी. एल. पांडेय

लेखक के रूप में नेहरू की विचार सम्पदा अत्यन्त मूल्यवान् है। व्यस्त जीवन में इतना अध्ययन और प्रभूत लेखन विस्मयकारी है। आत्मकथा, भारत की खोज, तथा विश्व इतिहास की झलक जैसी श्रेष्ठ कृतियों के अतिरिक्त उन्होंने स्फुट लेखों के रूप में विपुल साहित्य की रचना की है। शिक्षा, साहित्य, भाषा, विज्ञान, यात्रा, संस्मरण आदि विषयों पर लिखे हुए उनके लेख रचनात्मक साहित्य के सुन्दर उदाहरण हैं। उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि कविता से मुझे गहरा लगाव रहा। सब चीजें अदलती बदलती रहीं, पर कविता का प्रेम मुझमें बराबर बना रहा। उनका आग्रह था कि जीवन को एक कविता बनाना चाहिए। 'गुड अर्थ' जैसे विश्व प्रसिद्ध उपन्यास की लेखिका पर्ल बक के शब्दों में हमारा युग कुछ और शान्त होता तो जवाहर लाल नेहरू श्रेष्ठ सर्जक साहित्यकार के रूप में हमारे सामने आते, क्योंकि उनकी शैली विशिष्ट है और वेगपूर्ण राजनीतिक जीवन के बीच उनकी प्रतिभा यदि समर्पित नहीं होती, तो जिन मूल्यवान ग्रन्थों का निर्माण वह कर पाते, उनके वरदान से वंचित रह जाने का विषाद हमें न होता। इसी सन्दर्भ में एक बार इंग्लैण्ड की एक महिला पुस्तक विक्रेता ने नेहरू जी से कहा था कि आपको जेल में बन्द कर दिया जाना चाहिए, ताकि आप और अधिक लिख सकें, क्योंकि आपकी पुस्तकों की बहुत माँग रहती है।

नेहरू के लेखन में प्रतिबिम्बित उनकी दृष्टि और वैचारिकता उनकी मानसिकता की निर्मिति में निहित है। विज्ञान और इतिहास के अध्ययन ने उनकी धारणाओं को प्रभावित और निर्धारित किया। विज्ञान ने उन्हें वैज्ञानिक की भौतिक विश्लेषण दृष्टि और रूढ़िविहीन आस्था दी। इतिहास ने उन्हें समय को अविच्छिन्न क्रम में देखने की ओर प्रेरित किया। उनमें परम्परा और संस्कृति जीवन्त तत्वों का स्वीकार भी है और नये युग की परिवर्तित मूल्य चेतना के अनुसार नवनिर्माण की अधीर व्यग्रता भी है। राष्ट्र के प्रति गहरे निजत्व के साथ ही उनमें विश्व मानवता के व्यापक संदर्भ भी हैं। सारी दुनिया की गरीब, शोषित और कृत्रिम विभेदों से त्रस्त जनता के प्रति उनके मन में गहरी संवेदनशीलता थी। उनमें अपनी धारणाओं के प्रति आस्था थी, लेकिन स्वयं को अतर्क्य मानने का दुराग्रह नहीं था। सत्य और सद्विचार का स्वागत वह किसी भी वातायन से करने को प्रस्तुत रहते थे। लोकतंत्र उनका राजनीति में ही नहीं, जीवन और चिन्तन में भी सर्वोच्च मूल्य था।

साहित्य के मूल्यों के प्रति नेहरू की दृष्टि बहुत स्पष्ट और मानवीय है। वह साहित्य का प्रयोजन मनोरंजन नहीं मानते हैं। उनके अनुसार साहित्य की सार्थकता अभिजात्य वर्ग के लिए रचे जाने में नहीं है। उन्होंने लिखा है- 'बुनियादी बात यही है कि हमारे साहित्यकार इस बात को याद रखें कि उनको थोड़े से आदमियों के लिए नहीं लिखना है, बल्कि आम जनता के लिए लिखना है। वह जमाना जाता रहा, जब किसी देश की संस्कृति थोड़े ऊपर के आदमियों की संस्कृति थी। अब वह आम जनता की होती जाती है और वही साहित्य बढ़ेगा, जो इस बात को सामने रखता है। नेहरू के अनुसार साहित्य में लोकोन्मुखता और नवीन चेतना होनी चाहिए। अब साहित्य तभी प्रभावशाली होगा, जब उसमें शक्ति का संचार किया जायेगा, उसमें नये और समयानुकूल भाव भरे जायेंगे। उनकी साहित्यकारों से अपेक्षा थी कि वे दुनिया के नवजात ज्ञान तथा उसके विविध पक्षों को भी अपनी रचना में शामिल करें। वह कविता के माधुर्य की प्रशंसा तो करते थे, लेकिन उनके अनुसार कभी कभी मिठास इस कदर होती है कि इसमें शीरे की चिपक-सी आ जाती हैं। उन्हें राष्ट्रीय भावों से समन्वित कविताएँ प्रभावित करती थीं।

उनकी 'आत्मकथा' उनके स्वयं के यशस्वीकरण का प्रयास नहीं है, बल्कि उसमें पूरे परिवेश और समकालीन चेतना के प्रसंग हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इस पुस्तक के बारे में लिखा था कि इसमें विवरणों के भीतर मानवता की गंभीर धारा प्रवाहित है। भारत की खोज में उन्होंने भारतीय इतिहास का ऐसा विश्लेषण प्रस्तुत किया है, जिससे उनके व्यापक ज्ञान और उनकी इतिहास दृष्टि का प्रमाण मिलता है। 'विश्व इतिहास की झलक' पुस्तक विश्व का राजनीतिक इतिहास ही नहीं है। उसमें पृथ्वी के उद्भव और मनुष्य के विकास का वैज्ञानिक विवेचन भी है। पुत्री इन्दिरा को जेल से लिखे गये पत्र विश्व इतिहास की महत्वपूर्ण कृति बन गये। 'द न्यूयार्क टाइम्स' ने सन 1934 में इस पुस्तक की प्रशंसा में लिखा था कि इस पुस्तक के आधार पर नेहरू के सामने एच. जी. वेल्स एकांगी लगते हैं। नेहरूजी की सांस्कृतिक सम्पन्नता की व्यापकता अदभुत है। उनकी 'वसीयत' भावपूर्ण गद्य काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसे पढ़कर आधुनिक युग की पूरी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक साहित्य धारा का स्मरण हो आता है। शिल्प और भाषा के स्तर पर भी नेहरू का साहित्य बहुत संप्रेषणीय है। इनकी शैली संयमित, स्पष्ट, ललित और प्रभावपूर्ण है। भाषा के सम्बन्ध में उनकी मान्यता थी कि अक्सर भाषा का सौन्दर्य इसमें मान लिया जाता है कि वह आलंकारिक हो, उसमें लम्बे और पेचीदा शब्दों का प्रयोग हो। ऐसी भाषा में शक्ति और गरिमा बहुत कम दिखायी देती है। वह ऐसी भाषा के पक्ष में थे, जो जन साधारण तक पहुँचती हो। इसलिए वह लोक भाषाओं और क्षेत्रीय भाषाओं के विकास के समर्थक थे। एक लेखक के रूप में पं. नेहरू में यथार्थ के साथ ही तल्लीन आत्मीयता और भावाकुलता भी है। साहित्य में वह मानवीय मूल्यों के पक्षधर थे तथा साहित्य की सार्थकता, उसकी प्रेरणात्मक क्षमता में मानते थे। इसीलिए रॉबर्ट फ्रॉस्ट की वह प्रसिद्ध कविता उनसे हमेशा अभिन्न रही, जिसे वह हमेशा अपनी मेज पर रखे रहते थे।

woods we lovely dark and deep
But I have promises to keep And
miles to go before I sleep. ❑

रिपोर्ट
उत्तर प्रदेश सर्वोदय मंडल

8 अगस्त 2021 को उत्तर प्रदेश सर्वोदय मंडल की बैठक नारायण होटल, बरेली (उत्तर प्रदेश) में प्रदेश अध्यक्ष भगवान सिंह की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। सर्वप्रथम दिवंगतों को श्रद्धांजलि अर्पित की गई। तत्पश्चात् पिछली कार्यवाही की सर्वसम्मति से पुष्टि की गयी।

बैठक में उपस्थित सदस्यों ने सर्वसम्मिति से निम्न प्रस्ताव पारित किया -

प्रस्ताव 1 - आजादी के 75 वें वर्ष (अमृत महोत्सव) के अवसर पर 75 जिलों में सर्वोदय मंडल बनाने और सभी जिलों में 75 छात्रों, महिलाओं, वकीलों और किसानों के साथ मिलकर अमृत महोत्सव मनाने का सकंल्प लिया गया। इसके लिए प्रयागराज, वाराणसी, गाजीपुर से रामधीरज भाई, बदायूँ से सविता बहन, फर्रुखाबाद से लक्ष्मण सिंह, महोबा से अरविन्द भाई, रायबरेली से रवीन्द्र सिंह, उन्नाव से रामशंकर भाई, मेरठ से राजेन्द्र शर्मा और स्नेहवीर, मिर्जापुर से राजेन्द्र मिश्र तथा कानपुर से बिंदा भाई ने जिम्मेदारी ली।

प्रस्ताव -2 लोकसेवकों व सर्वोदय मित्रों का वर्ष 2021-22 का नवीनीकरण व सूची अपडेट पत्रिका में प्रकाशित किये जाने का निर्णय लिया गया। सभी को नवीनीकरण हेतु फार्म भरने होंगे। जिन जनपदों में सदस्य नहीं हैं, वहां रामधीरज भाई, अरविन्द सिंह कुशवाहा एवं रवीन्द्र भाई भ्रमण कर सदस्य बनायेंगे।

प्रस्ताव संख्या 3 - उत्तर प्रदेश सर्वोदय मंडल से 15 हजार रुपये की व्यवस्था सुनिश्चित की जाये, जिससे सर्वोदय जगत पत्रिका का प्रकाशन कार्य विधिवत हो सके। रामधीरज भाई ने सर्वोदय जगत के 150 सदस्य, लक्ष्मण सिंह ने 150 आजीवन सदस्य तथा अरविन्द भाई ने 250 वार्षिक सदस्य बनाये जाने की प्रतिबद्धता व्यक्त की।

प्रस्ताव संख्या 4 - उत्तर प्रदेश का अगला अधिवेशन 23-24 अक्टूबर को रायबरेली, विनोबापुरी में आयोजित किये जाने हेतु रवीन्द्र भाई ने प्रस्ताव रखा, जिसका सभी ने सर्वसम्मति से समर्थन किया।

प्रस्ताव संख्या 5 - प्रदीप कुमार बजाज को गत वर्ष 2020-21 में लोकसेवक बनाने का जो प्रयास किया गया है, वह संघ विधान द्वारा निर्धारित प्रक्रिया का अनुपालन न करके, वरन् एक साजिश के तहत है। लोकसेवक सदस्यता का जो प्रपत्र प्रदेश अध्यक्ष को भेजा जाता है, वह शुल्क सहित नहीं भेजा गया है। प्रदेश सर्वोदय मंडल की इस बैठक में प्रदीप कुमार बजाज को लोकसेवक बनाने के उस प्रयास को अमान्य किया गया तथा सर्व सेवा संघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष को इस निर्णय से अवगत कराया गया।

बैठक में उपस्थिति : कार्यसमिति सदस्य

1. सर्वश्री भगवान सिंह (बदायूँ),
2. शिवविजय भाई (बाँदा),
3. डॉ. सविता (बदायूं),
4. रामशंकर भाई (उन्नाव),
5. रवीन्द्र सिंह चौहान (रायबरेली),
6. रामधीरज भाई (प्रयागराज),
7. राजेन्द्र भाई (मेरठ),
8. जगतबन्धु गुप्ता (बदायूं),
9. राजेन्द्र मिश्र (मिर्जापुर),
10. नासिर अहमद (उन्नाव),
11. बिंदा भाई (कानपुर),
12. अरविंद कुशवाहा (महोवा),
14. लक्ष्मण सिंह (फर्रूखाबाद),
15. टी.के. सिन्हा (वाराणसी)।

आमंत्रित सदस्य :

16. डॉ. राकेश रफ़ीक़ (मुरादाबाद),
17. डॉ. स्नेहवीर (मेरठ),
18. दाताराम सैनी,
19. गांधी मोहन (बरेली),
20. राजनारायण (बरेली),
21. सरदार बलदेव सिंह (मेरठ),
22. रामसनेही भाई,
23. कैलाशचन्द कटियार,
24. बजरंग बहादुर भाई (फर्रूखाबाद)।

प्रस्ताव संख्या 6 - सर्व सेवा संघ के पूर्व अध्यक्ष महादेव विद्रोही से उत्तर प्रदेश सर्वोदय मंडल ने सर्वसम्मति से अपील की है कि वे वर्तमान संघ अध्यक्ष चंदन पाल के कर्तव्यों में कानूनी अड़चनें अथवा बाधाएं पैदा नहीं करें, अन्यथा उनके विरुद्ध सत्याग्रह शुरू किया जाएगा।

प्रस्ताव 7 – उत्तर प्रदेश सर्वोदय मण्डल की यह बैठक प्रदीप कुमार बजाज को नियम विरुद्ध, असामान्य एवं गैर-कानूनी तरीके से लोकसेवक बनाने के लिए मधुसूदन उपाध्याय एवं रामधनी मल्ल के प्रयास की भर्त्सना करती है और साथ ही प्रदीप कुमार बजाज को लोकसेवक बनाने की प्रक्रिया को सर्वसम्मति से अमान्य करती है। यह सर्व सेवा संघ के संविधान के विरुद्ध कृत्य है, जो अक्षम्य है।

मेरठ के युवा साथी डॉ. स्नेहवीर ने वृयोवृद्ध सर्वोदयी कृष्णकुमार खन्ना के स्वास्थ्य के बारे में बताया और मेरठ की अदालतों में अनवरत चलाये जा रहे आंदोलनों की जानकारी दी। उन्होंने अपील की कि अपने-अपने जिलों में भ्रष्टाचार के खिलाफ न्यायालयों में आंदोलन चलायें। मुरादाबाद के साथी डॉ. राकेश रफीक ने किसानों के आंदोलन हेतु प्रस्ताव और विचार रखा। उन्होंने कहा कि भारत सरकार को किसानों की तीनों मांगों को शीघ्र मान लेना चाहिए, तभी भारत की खाद्य व अर्थव्यवस्था मजबूत होगी। उन्होंने आजादी के 75वें वर्ष के अवसर पर उत्तर प्रदेश के सभी जिलों में गांधी और सर्वोदय विचार का प्रचार-प्रसार करने के लिए अधिकाधिक सर्वोदय मित्र और सर्वोदय जगत के सदस्य बनाने की अपील की।

बंदायू की सविता बहन ने युवा शिविर करने की जिम्मेदारी ली और अपील की कि हम सब गांधी विचार को बढ़ाने का कार्य करें। डॉ. टी. के. सिन्हा ने पर्यावरण का मुद्दा उठाया और जिला स्तर पर वृक्षारोपण करने का निवेदन किया। राजेन्द्र शर्मा ने कहा कि युवाओं में नैतिकता की कमी को दूर करने और गांधी-विचार के प्रति आकर्षित करने के लिए मेरठ में शिविर आयोजित करेंगे। शिवविजय भाई ने कहा कि सर्वोदय मित्रों की संख्या बढ़ाने के लिए हमें प्रयास करना चाहिए। आज खादी पहनने वालों की संख्या लगभग नगण्य हो गयी है, इस हेतु लोकसेवक के बजाय सर्वोदय मित्र बनाये जाने का व्यापक प्रयास करना चाहिए।

प्रदेश सर्वोदय मंडल की बैठक ने सर्वसम्मति से पैगासस जासूसी कांड की न्यायिक जांच की मांग और किसानों की तीनों मांगों को स्वीकार करने की अपील की। राजनारायण गुप्ता ने कहा कि बढ़ते जलवायु खतरे और पर्यावरण संरक्षण हेतु युवाओं की भूमिका बढ़ाकर ही सफलता प्राप्त की जा सकती है। अंत में गांधी मोहन ने बैठक में उपस्थित सभी गांधीजनों एवं अतिथियों का धन्यवाद ज्ञापन किया।

-भगवान सिंह,
अध्यक्ष, उत्तर प्रदेश सर्वोदय मंडल

'Sarvodaya Jagat' Hindi Fortnightly
Registered under RNI No. 35495/78, Postal Registration No. VSI-(E) 04, Valid upto 31 December 2023
Issued by S.S.P.O. Varanasi (East Division)

भारत छोड़ो आंदोलन

❑ अनिल अनलहातु

यह उस समय की बात है,
जब लोगबाग अपने चेहरे को
गर्दन से हटाकर
अपनी हथेलियों में रख
भय और आश्चर्य से
घूरा करते थे।

एक आदमी,
जो दो शून्यों को जोड़ कर
अनन्त बनाया करता था,
अचानक ही उन शून्यों को
एक के ऊपर दूसरा रख
एक खोखला ड्रम बना
उसके भीतर बैठ
लुढ़कने लगा।

यह वह वक्त था,
जब लोगबाग
आपस में बातें करते
एक-दूसरे के पैर नहीं देखा करते थे,
यह वह शानदार और बहादुर वक्त था,
जब कुछ सनकी और कूढ़मगज नौकरशाह
जनतन्त्र की कमोड पर
नैतिकता से फ़रागत हो रहे थे,
एक आदमी अचानक ही कहीं से
चीख़ता हुआ आया
और 'मुक्तिबोध' की खड़ी पाई की
सूली पर लटक गया।

यह कतई 'मुक्तिबोध' की
ग़लती नहीं थी,
क्योंकि पूरा देश ही
'पाई' और 'खाई' के नाम पर
बिदका हुआ था
बूढ़े बुड़बुड़ाते सुअरों की तरह
पास्कुआल दुआर्त के
छोटे अबोध भाइयों के
कान चबा रहे थे,
और बड़े चोली के पीछे छुपे
सत्य को पकड़ लेने को बेताब थे,
जबकि युवाओं की एक लम्बी कतार
'धूमिल' के स्वप्नदोषों से लेकर
'गोरख पाण्डे' की दालमण्डी तक
पसरी पड़ी थी, और मैं था कि
लगातार अपने आप से भागते हुए
फिर-फिर अपने तक ही
पहुँच रहा था।

भागने और फिर भी
कहीं नहीं पहुँचने की यह लम्बी दास्ताँ
शायद उधार में मैंने
अपने बाप से ली थी,
जो लगातार ग्रामोफ़ोन पर
उदास, तन्हा और ग़मगीन गाने सुनता रहा
और श्मशान को
शहर से बाहर कर देने का
सुझाव देता रहा
कुछ 'रघुवीर सहाय' की कविता
की इस पँक्ति के तर्ज पर कि
'कल मैं फिर एक बात कहकर बैठ जाऊँगा';

कहने और फिर बैठ जाने के बीच के
फासले को वह
'विनोद कुमार शुक्ल' के
'बड़े बाबू' की तरह
नौकर की फटी कमीज़ की भाँति
जतन से तहिया कर
रख दिया करता था,

यद्यपि वह अपनी उम्र के दस के पहाड़े
के उस पड़ाव पर ही था,
जब हॉलीवुड की हीरोइनें
अपने जवान होने का ऐलान
करती हैं,
वह अपनी मौत से कई-कई बार
गुज़र चुका था, अपने कन्धों पर उसने
कई-कई लाशों के वजन
सहे थे;

वह टूटता जा रहा था
और मैं!

कि ठीक इसी वक्त मुझे
मेरे उस दोस्त ने
बचा लिया था, जो तब बम्बई में था
और उस आदमी के बारे में
बताता रहता था
जो बाम्बे वीटी की भीड़ भरी सड़कों पर
कुहनियों एवं टखनों से
अपने लिए जगह बनाता चलता था,

वह स्तब्ध था और मैं...!
पटना के तारघर की मेज़ पर
किसी 'अजनबी' द्वारा लिखित
अपने सुइसाइड नोट का
टेलीग्रामी मज़मून
पढ़ रहा था

लेकिन ठहरें, किस्सा यहीं ख़त्म
नहीं होता
(जैसे ख़त्म नहीं होती कोई कविता)
अपार भीड़ के उस निर्जन सूनेपन में
वह कई-कई बार
अपनी मौत की सण्डास पर
जाकर मूत आया था
(यद्यपि यह तय है कि कुछ भी तय नहीं है)
फिर भी यह तय है कि वह बहुमूत्र रोगी नहीं था,

यह तो उसने बाद में बताया।
तब मैं
इतिहास की पुस्तकों में उलझा
'उपालि' और 'आनन्द' से
जिन्दगी का पता पूछ रहा था,
उस जिन्दगी का,
जो किसी अमीर के ऐशगाह में लेटी
जनतन्त्र और समाजवाद के
ख्वाब देखा करती थी
और मैं था कि...

लगातार इतिहास की पुस्तकों
में खोया...!
और आज़ादी मिलने के
बयालीस साल बाद
मुझे यह पता चला है कि
दरअसल वह
'क्विट इण्डिया मूवमेण्ट' था,
जिसे मैं आज तक
'भारत छोड़ो आन्दोलन'
समझ रहा था। ❑

सर्व सेवा संघ (स्वत्वाधिकारी) के लिए प्रकाशक अरविन्द अंजुम द्वारा सर्व सेवा संघ परिसर, राजघाट, वाराणसी (उ.प्र.) 221001 से प्रकाशित तथा महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी से मुद्रित। संपादक : बिमल कुमार